सामाजिक कुरीतियां

[टालस्टाय की Social Evils and their Remedy का अनुवाद]

अनुवादक
श्री माधवप्रसाद मिश्र

१९४७
सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

प्रकाशक—
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली ।

तीसरी बार १९४७
मूल्य
सवा दो रुपये

मुद्रक—
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस,
दिल्ली, १८-४७ ।

प्रकाशकीय

'सामाजिक कुरीतियाँ' का यह संस्करण सन् १९३२ के बाद १९४७ में—१५ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है, क्योंकि सन् १९३२ में अजमेर मेरवाड़ा की सरकार ने—राजद्रोहात्मक करार देकर इसे जब्त कर लिया था। अन्तरिम सरकार के स्थापित होने के बाद दिसंबर १९४६ में अजमेर मेरवाड़ा की सरकार ने यह जब्ती, हमारे लिखने पर, उठा ली। पन्द्रह वर्ष के बाद भी, इस पुस्तक का नया संस्करण, आज के समय में पाठकों को दिलचस्प और संग्रहणीय मालूम होगा, और आशा है पाठक उत्साह से इसे अपनावेंगे।

—मंत्री

प्रकाशक—
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली।

तीसरी बार : १९५७
मूल्य
सवा दो रुपये

मुद्रक—
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस,
दिल्ली, १९५७।

प्रकाशकीय

'सामाजिक कुरीतियां' का यह संस्करण सन् १९३२ के बाद १९४७ में—१५ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है क्योंकि सन् १९३२ में अजमेर मेरवाड़ा की सरकार ने—राजद्रोहात्मक करार देकर इसे जब्त कर लिया था। अन्तरिम सरकार के स्थापित होने के बाद दिसंबर १९४६ में अजमेर-मेरवाड़ा की सरकार ने वह जब्ती, हमारे लिखने पर, उठा ली। पंद्रह वर्ष के बाद भी, इस पुस्तक का नया संस्करण, आज के समय में पाठकोंको दिलचस्प और संग्रहणीय मालूम होगा, और आशा है पाठक उत्साह से इसे अपनावेंगे।

—मंत्री

भूमिका

कुछ वर्ष हुए, पैरिस की एक प्रदर्शिनी में इग्नाल स्टिका नामक एक चित्रकार ने "बहिष्कृत टॉल्स्टॉय" नामक एक चित्र रक्खा था। उसमें यह बताया गया था कि प्रभु ईसा टॉल्स्टॉय को अपनी बाहों में सम्हाले हुए हैं और उनके मस्तक को चूम रहे हैं।

यदि महात्मा टॉल्स्टॉय के जीवन चरित्र पर सैकड़ों पृष्ठों की एक पुस्तक लिखी जाय तो वह भी उनके जीवनोद्देश्य और कार्य के विषय में हमें इतनी जानकारी नहीं दे सकती और कम-से-कम वह श्रद्धा तो कभी हमारे दिल में उत्पन्न नहीं कर सकती, जो इस चित्र की कल्पना-मात्र से हो जाती है। टॉल्स्टॉय, उनका शुद्ध हृदय, उनकी कार्य-शीलता और उनके विषय में ईसाई समाज तथा ईसा (जिसको ईसाई लोग परमात्मा का पुत्र मानते हैं) के भाव आदि सब एक छोटे से चित्र में चित्रकार ने दिखा दिये। वह पुरुष कितना महान होगा, जिसे स्वयं ईसा अपने हृदय से लगा कर उसके मस्तक को चूमते हों, और वे धर्माधिकारी भी कितने पतित होंगे जिन्होंने ऐसे पुरुष को अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया!

वास्तव में टॉल्स्टॉय की बुद्धि इतनी तलस्पर्शी थी, उनका हृदय इतना स्वच्छ था, और उनकी वाणी में ऐसी जबरदस्त शक्ति थी कि वे तमाम सामाजिक बुराइयों की जड़ को खोद कर लोगों को खुले-से-खुले शब्दों में बता देते थे। वे इस बात की परवा नहीं करते थे कि बुराइयां किससे सम्बन्ध रखती हैं। वह राजा हो या रंक, पापी हो या चोर,

सेठ-साहूकार हो या दरिद्री और स्त्री हो या पुरुष, वे स्पष्ट से स्पष्ट शब्दों में उसे खोल कर रख देते। उनके ग्रन्थों और खुली चिट्ठियों को पढ़कर लोगों के दिल दहल जाते थे, पापियों के अन्तःकरण में भय का सचार हो जाता था, पेटार्थी धर्माधिकारियों का धर्म-ज्ञान और लम्बी चौड़ी बातें काफूर हो जातीं और राजाओं के सिंहासन डावाडोल हो जाते थे। वहां छल कपट और चिकनी-चुपड़ी बातें नहीं थीं, बल्कि प्रेम और स्वार्थ-त्याग का निर्मल उपदेश था।

टॉल्स्टॉय एक पक्के सुधारक थे। उनका सपूर्ण जीवन (१८२८-१९१० ई०) ऐशोआराम और भोग विलास का नहीं, एक सच्चे साधक का जागृत जीवन था। वे प्रतिक्षण सोचते और प्रयोग करते रहते थे। किसी बात के सच्चे और नीति युक्त होने में उनके दिल में सदेह उत्पन्न होते ही वे उसकी तह तक जाते। रात में नींद उनके लिए हराम हो जाती। ग्रन्थ और मस्तिष्क को टटोलते और चिंता करते करते पागल हो जाते थे। अपने जीवन की असम्बद्धता और निरर्थकता पर अनुताप करते-करते आत्महत्या तक के लिए वे उतारू हो जाते, पर किसी बात को अधूरी नहीं छोड़ते। अन्तरात्मा और दैनिक जीवन में असम्बद्धता को वे कभी बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

और इसका परिणाम क्या हुआ? सत्तावाद, पूंजीवाद, सेनावाद धार्मिक सगठन और स्त्री पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर उन्होंने अपने अद्भुत विचार प्रकाशित करके सारे यूरोप में एक स्पृहणीय क्रान्ति कर दी। इन विषयों पर लिखी हजारों पुस्तकों का व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण साबित कर दिया और मानव-जीवन के सरल सनातन नियमों को पुनः समाज के सामने रखकर उसे आनेवाले खतरों से सचेत कर दिया।

"आध्यात्मिक साम्यवाद" उनके जीवन, शिक्षाओं और उपदेशों का निष्कर्ष है। उनका उपदेश यह नहीं था कि पूंजीपतियों और राजाओं को लूटकर उनकी सम्पत्ति गरीबों में बांट दो यह तो निःसन्देह वे चाहते थे कि कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न रक्खे। सारी सम्पत्ति राष्ट्र की हो।

परन्तु उनका ढंग जुदा था। रूस का वर्तमान साम्यवाद टॉल्स्टॉय का धार्मिक साम्यवाद नहीं, लेनिन का राजनैतिक साम्यवाद है। टॉल्स्टॉय का साम्यवाद रामराज्य होगा। जिसमें लोग दूसरे की सम्पत्ति को छीन कर अपने को उसके समान बनाने की चेष्टा नहीं करेंगे, बल्कि दूसरे की सुविधा और सुख का खयाल कर शुरू से ही सम्पत्ति का त्याग करेंगे और सम्मान भार से रहने की कोशिश करेंगे। अर्थात् हिंसा नहीं, भ्रातृ भाव-युक्त त्याग हमारे सामाजिक-जीवन का आचार सूत्र हो।

टॉल्स्टॉय की रचनाओं को पढ़ते हुए वही उल्लास होता है जो किसी भारतीय ऋषि की वाणी को पढ़ते हुए होता है। टॉल्स्टॉय की शिक्षाओं में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का आधुनिक भाषा में जितना शक्तिशाली और विशद प्रतिपादन हमें मिलता है, उतना शायद ही किसी सुधारक की भाषा में हो।

इन सब बातों को देखते हुए, टॉल्स्टॉय के ग्रन्थों को पढ़ते हुए हमारे हृदय में एक अद्भुत आत्मीयता का भाव उमड़ता है। यदि यही ईसाई धर्म का सार है तो हमारे वैदिक धर्म और इस क्रिश्चियानिटी में क्या अंतर रहा? सचमुच कोई अन्तर नहीं है। धर्म के मूलभूत तत्त्व सनातन हैं और समस्त मानव-जाति ही नहीं,परमात्मा की बनाई समस्त सजीव निर्जीव सृष्टि के लिए भी वे एक हैं। जो भेद हमें दिखाई देता है वह तफसीलों का है जो देश, काल आदि के साथ-साथ बदलती रहती हैं।

टॉल्स्टॉय इन्हीं मूल भूत तत्वों का अथवा सरल, सत्य सनातन नियमों का विवेचन करते हैं और भिन्न भिन्न रीति से इसी बात को अपने पाठकों के चित्त पर अंकित करने का यत्न करते हैं कि मानव-जाति के कल्याण का उपाय इतना सरल नहीं होता, तो दीन-से दीन और दरिद्री मनुष्य अपने दुःखों से निस्तार पाने की आशा कैसे कर सकता था?

हमारी सामाजिक मूर्च्छा भी यद्यपि है तो बहुविध, परन्तु उसके

ढूंढने का उपाय भी अत्यन्त सरल है। हम इस ग्रन्थ में उसी सरल उपाय को टॉलस्टॉय की वाणी में भारतीय समाज के सामने उपस्थित करते हैं। भगवान सूर्यनारायण की तरह महापुरुषों की वाणी भी सार्वभौम होती है। आशा है हमारा समाज उनकी इन अमूल्य शिक्षाओं से अवश्य लाभ उठायेगा।

मसरया (सीतापुर)

वैशाख सं० १९८९।

माधवप्रसाद मिश्र

निर्देशिका

सामाजिक कुरीतियां

और

उनको दूर करने के उपाय

१–जमीन और मजूर
२–सरकारें
३–धम
४–युद्ध
५–स्त्री और पुरुष

जमीन और मजूर

: १ :

मानव-समाज या पशुओं का झुण्ड ?

"मुझे सारा मनुष्य-समाज जानवरों के उस झुण्ड के समान—दिखाई दिया, जिसमें बैल, गाय और बछड़े सभी हैं और जो मजबूत तारों से घिरे हुए बाड़े के भीतर बंद हैं। बाड़े के बाहर हरी हरी घास का सुन्दर चरागाह है, और बहुत-सी खाने-पीने की चीजें लगी हुई हैं; बाड़े के भीतर उन जानवरों के खाने भर को काफी घास नहीं है, और इस कारण जो-कुछ भी घास वहां है, उसको पाने के लिए वे जानवर अपने नुकीले तेज सींगों से एक-दूसरे को बड़ी बेरहमी के साथ मार रहे हैं और एक-दूसरे को अपने पैरों के तले कुचल रहे हैं। मैंने देखा कि उन जानवरों का मालिक, जो एक अच्छे स्वभाव और समझ वाला आदमी था, उनके पास आया। उनकी हालत देखकर वह बड़ा हैरान हुआ, और सोचने लगा कि उनकी हालत को सुधारने के लिए कौन से उपाय काम में लाये जा सकते हैं। उसने सुन्दर, खूब हवादार और जालीदार गोशालाएँ बनवा दीं, जिसमें रात में रहने के लिए जानवरों को सुभीता हो जाय। उसने उनके सींगों के सिर मढ़वा दिए जिससे वे अपनी जान बचाने की कोशिश में एक दूसरे को अधिक निर्दयता के साथ मार न सकें। उसने उस बाड़े का एक हिस्सा बूढ़े बैलों और गायों के लिए अलग कर दिया, इसलिए कि अपनी जिन्दगी के आखिरी दिनों में उन्हें पेट का गड्ढा भरने के लिए ज्यादा मेहनत न करनी पड़े और वे जीते रहने भर को काफी घास पा सकें।

इधर बछड़े दूसरे जानवरों से सताये जा रहे थे। कुछ भूख के मारे तड़प-तड़पकर मर रहे थे और इसलिए इस योग्य नहीं थे कि बढ़कर आगे चलें और कुछ काम दे सकें। इसलिए उसने यह इन्तजाम किया कि उन्हें रोज सबेरे पीने को थोड़ा-सा दूध मिल जाया करे। हां, किसी को भी काफी दूध नहीं मिलता था, तो भी उन सभी को इतना-इतना दूध जरूर मिल सकता था कि वे जीवित रह सकें। वास्तव में उन पशुओं के स्वामी ने उनकी दशा सुधारने के लिए जो कुछ भी वह कर सका, किया, परन्तु जब मैंने उससे पूछा कि आप एक सीधी-सी बात क्यों नहीं करते, इस जंगल को हटाकर इन पशुओं को इसके बाहर क्यों नहीं निकाल देते, जिससे वे मनमानी घास खा सकें और अपनी इच्छानुसार इधर-उधर घूम सकें, तो उसने उत्तर दिया—'यदि मैं ऐसा करूं तो उनका दूध मैं कदापि नहीं दुह सकता।"

: ७ :

श्रम विभाग

मनुष्य चाहे जहाँ और चाहे किसी अवस्था में भी रहे, उसका घर तथा उसके महल की ऊँची अट्टालिकाएं आप-से आप नहीं बन जातीं, उसके चूल्हे में ईंधन आप-से आप नहीं पहुँच जाता, पानी भी आप-से आप नहीं आ जाता, और उसके खाने के लिए बना हुआ भोजन आसमान से नहीं टपकता। उसका भोजन, उसके वस्त्र तथा उसके जूते आदि—ये सारी चीजें पहले के लोगों ने ही तैयार नहीं की हैं, बल्कि इस समय भी वे आदमी तैयार कर रहे हैं, जो रात दिन अधिक परिश्रम करने पर भी अपने आपको तथा अपने छोटे-छोटे बच्चों को यातनाओं एवं भूखों मरने से बचाने के लिए काफी भोजन और वस्त्र तथा रहने का स्थान नहीं पाते, जो रोज सैकड़ों और हजारों की संख्या में मरते और मिटते चले जा रहे हैं।

सब मनुष्य दरिद्रता के चंगुल में फंसे हुए हैं। उन्हें अपनी जीविका-उपार्जन के लिए इतना कठिन परिश्रम करना पड़ता है और इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है कि उनकी आँखों के सामने उनके माता पिता, भाई बहन तथा बच्चे भूख और दरिद्रता से उत्पन्न होने वाले रोगों के मारे मरते चले जाते हैं। उनकी दशा एक टूटे हुए, अथवा समुद्र में फंसे हुए जहाज पर के आदमियों के समान है, जिनके पास खाने-पीने का बहुत थोड़ा सामान बच रहा है। ईश्वर अथवा प्रकृति ने ही सभी मनुष्यों को ऐसा बना दिया है कि वे

अपनी जीविका का आप उपार्जन करें और जीवन की आवश्यकताओं के साथ निरंतर संग्राम करते रहें। अतः हमारे इस काम में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करना अथवा दूसरों से ऐसा परिश्रम लेना कि जिसका सार्वजनिक हित के लिए कोई उपयोग नहीं है, उनके तथा हमारे लिए एक समान घातक है। तो फिर क्या कारण है कि अधिकांश पढ़े लिखे खुद तो कुछ भी परिश्रम नहीं करते, और उलटे शांति के साथ दूसरों से परिश्रम लेते चले जाते हैं? यदि उन बेचारों से यह फिजूल परिश्रम न लिया जाय तो वे अपनी आजीविका के लिए कोई उपयोगी काम तो करें। फिर पढ़े लिखे लोग ऐसे जीवन को स्वाभाविक और उचित क्यों समझते हैं?

एक ऐसे जूते बनाने वाले मोची को देखकर हमें बड़ा आश्चर्य होगा, जो समझता है कि लोग उसे भोजन देने के लिए बाध्य हैं। क्यों? इसलिए कि वह जूते बना रहा है, जिनके लिए उससे किसी ने भी फर्मायश नहीं की थी। पर हम उन सरकारी मुलाजिमों, धर्माधिकारियों या शिल्प एवं विज्ञान सम्बन्धी कार्य करने वाले आदमियों के सम्बन्ध में क्या कहेंगे, जो कोई ऐसी बात नहीं करते जो सर्व-साधारण के लाभ की हो? नहीं—बल्कि जिनके काम की किसी को भी आवश्यकता नहीं है, फिर भी जो बड़े साहस के साथ समाज से श्रम विभाग के नाम पर अच्छा भोजन और अच्छे वस्त्र चाहते हैं?

हां, हम मानते हैं कि श्रम विभाग वास्तव में हमेशा से चला आ रहा है। परन्तु यह विभाग ठीक तभी समझा जायगा जब मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि और शुद्ध अन्तःकरण से इस बात का निर्णय करे कि यह श्रम विभाग किस प्रकार किया जाना चाहिए। यदि सभी मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि से काम लें, तो इस प्रश्न का निपटारा बड़ी सरलता और निश्चय के साथ हो सकता है। यह श्रम विभाग सच्चा तभी माना जा सकता है, जब किसी मनुष्य के कार्य को दूसरे लोग ... श्यक समझें कि वे उससे यह काम करने के लिए

कहें और इस सम्बन्ध में उनके लिए जो कुछ भी वह करे, उसके बदले में वे अपनी इच्छा से उसे भोजन, वस्त्र आदि देने का भार अपने ऊपर ले लें। परन्तु ख्याल कीजिए एक आदमी अपनी बाल्यावस्था से लेकर तीस वर्ष की उम्र तक दूसरों की ही कमाई पर गुलछर्रे उड़ाता रहा, और यह वादा करता रहा कि मैं किसी समय कोई बहुत ही उपयोगी काम कर दिखाऊंगा, जिसके लिए उससे किसी ने कभी कहा भी नहीं है—खैर, वह अपना विद्याध्ययन भी समाप्त कर चुकता है। पर इसके बाद भी वह अपनी बाकी जिन्दगी उसी प्रकार बिता रहा है–हां, और बराबर वादे करता चला जाता है कि मैं शीघ्र ही कोई अच्छा काम करूंगा। भला बताइए, यह भी कोई श्रम विभाग है? यह तो वस्तुतः बलवानों द्वारा निबलों के परिश्रम का अनुचित उपभोग करना है, जिसे दैव वादियों ने 'भाग्य', दार्शनिकों ने 'जीवन की अनिवार्य अवस्था' तथा आधुनिक अर्थ-शास्त्रियों ने 'श्रम विभाग' की उपाधि दे रखी है। श्रम विभाग मानव-समाज में सदैव ही रहा है, और मैं साहस के साथ कह सकता हूँ, सदैव रहेगा भी। परन्तु हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि यह हमेशा से रहा है और भविष्य में भी हमेशा रहेगा। बल्कि वास्तविक प्रश्न यह है कि इस श्रम विभाग को उचित श्रम-विभाग का रूप किस प्रकार दिया जा सकता है।

श्रम विभाग तो है। "इसलिए मैं, कुछ लोग मानसिक श्रम कर रहे हैं, कुछ आध्यात्मिक परिश्रम में लगे हुए हैं और कुछ मनुष्य शारीरिक परिश्रम करने में व्यस्त हैं।" मनुष्य किस विश्वास के साथ कहते हैं। उन्हें यह विचार सुखद मालूम होता है इसलिए उन्हें इस व्यवस्था में अपनी सेवाओं का उचित परिवर्तन दिखाई देता है, जो वास्तव में प्राचीन समय से होता आया भीषण अत्याचार है।

"तू अथवा तुम"—क्योंकि प्रायः बहु-संख्यक लोग ही एक की सेवा किया करते हैं—"तुम मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरे लिए यह सब मोटा काम करो, जो करने के लिए मैं तुमसे कहूं और जिसके

करने का तुम्हें अपने बचपन से अभ्यास रहा है, और इसके बदले में तुम्हारे लिए दिमागी काम करूँगा, जिसके करने का पहल से मुझे अभ्यास रहा है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं इसके बदले तुम्हें आध्यात्मिक भोजन दूँगा।"

यह कथन बिलकुल ही उचित जान पड़ता है और वास्तव में यह उचित ही होता, यदि सेवाओं का यह परिवर्तन स्वतन्त्र रूप से किया गया परिवर्तन होता, यदि वे लोग, जो शरीर के भोजन से हमारी तृप्ति करते हैं, आध्यात्मिक भोजन पाने के लिए शारीरिक भोजन देने को बाध्य न होते। आध्यात्मिक भोजन तैयार करने वाला मनुष्य कहता है,—"इसलिए कि मैं तुम्हें यह मानसिक भोजन देने में समर्थ हो सकूं, तुम्हें चाहिए कि मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरे घर की सफाई करो।"

परन्तु शारीरिक भोजन तैयार करने वाले मनुष्य को, अपनी ओर से बिना कोई मांग पेश किये, यह सब कुछ करना पड़ेगा। उसे शारीरिक भोजन देना ही पड़ेगा, चाहे उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले। यदि यह परिवर्तन, स्वतन्त्र ऐच्छिक रूप से किया गया होता, तो दोनों ओर की शर्तें समान होतीं। हम यह मानते हैं कि मनुष्य के लिए मानसिक भोजन की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि शारीरिक भोजन की। एक विद्वान् आदमी अथवा शिल्पकार कहता है, 'इसके पहले कि हम भोजन देकर लोगों की सेवा करना आरम्भ करें, हम चाहते हैं कि वे शारीरिक भोजन से हमें तृप्त करें।'

परन्तु शारीरिक भोजन देने वाले भी यह क्यों न कहें—"इसके पहले कि शारीरिक भोजन देकर हम तुम्हारी तृप्ति कर सकें, हमें आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता है, और जब तक हमको यह न मिल जायगा हम परिश्रम नहीं कर सकेंगे।"

आप कहते हैं—"जो आध्यात्मिक भोजन (Spiritual Food) लोगों को देता है, उसके तैयार करने के लिए मुझे एक किसान, एक

लोहार, एक जूता बनाने वाला चमार, एक बढ़ई, राज तथा दूसरे लोगों की जरूरत है।"

और मजूर भी यह कह सकता है—"तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए परिश्रम करने के पहले मुझे ऐसी शिक्षा चाहिए, जो मेरी आत्मा को बलवान बनाए। परिश्रम करने की शक्ति प्राप्त हो, इसलिए मुझे धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है, यह जानने की आवश्यकता है कि समाज में मनुष्य का क्या स्थान है, श्रम के साथ बुद्धि का प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है। मुझे उस आनन्द और सुख की भी जरूरत है जो ललित कला में प्राप्त होता है। मेरे पास इस बात पर विचार करने का समय नहीं है कि जीवन का अर्थ क्या है। कृपया मुझे ये सब बातें बतलाइए।"

"मेरे पास इस बात पर विचार करने का समय नहीं है कि सार्वजनिक जीवन के नियम क्या हैं, जिनसे न्याय की रक्षा की जा सके मुझे यह बतलाइए। मेरे पास यन्त्र विद्या, प्रकृति-दर्शन, रसायन-शास्त्र आदि का अध्ययन करने के लिए भी समय नहीं है। मुझे ऐसी पुस्तकें दीजिए, जिनसे मुझे यह मालूम हो सके कि मुझे अपने औजारों में, काम करने के ढंग में, अपने रहने के घरों में तथा उनमें गर्मी और रोशनी पहुँचाने आदि कामों में किस प्रकार सुधार करना चाहिए। मेरे पास इस बात के लिए भी समय नहीं है कि मैं काव्य-शास्त्र, चित्र विद्या तथा संगीत विद्या का भी अध्ययन कर सकूं। मुझे आह्लाद और आनन्द की यह सामग्री दीजिए, जिसकी जीवन के लिए परमावश्यकता है।"

आप कहते हैं कि 'हमारे लिए यह उपयोगी तथा आवश्यक कार्य करना असम्भव होगा अगर हम उन बातों से वंचित रखे जायेंगे जो श्रम-जीवी लोग हमारे लिए करते हैं' परन्तु मैं कहता हूँ कि एक मजूर भी यह कह सकता है कि, यदि मुझे धार्मिक पथ प्रदर्शन न मिला, जो मेरी बुद्धि तथा अन्तःकरण को आवश्यक है यदि मुझे एक न्याय-परायण सरकार न मिली, जो मेरे परिश्रम की रक्षा कर सके, यदि मुझे

वह शिक्षा नहीं मिलती, जिससे मैं अपने काम को आसान बना सकूं, तथा यदि मैं ललित-कला के उपयोग से भी वंचित रखा गया, तो मैं खेत जोतना, तथा शहर की सफाई करना आदि उपयोगी तथा आवश्यक कार्य भी—जो आपके कार्य से कम उपयोगी और आवश्यक नहीं हैं—न कर सकूंगा। आपने अभी तक मानसिक भोजन के रूप में जो कुछ भी मेरी भेंट किया है, वह मेरे लिए सर्वथा व्यर्थ है, बल्कि मैं यह भी नहीं समझ सका कि इससे किसी को लाभ पहुंच सकता है अथवा नहीं और जब तक मुझे यह खुराक न मिल जायगी, जिसका मिलना मेरे लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि दूसरों के लिए, तब तक मैं तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन नहीं तैयार कर सकता।''

क्या हो, अगर मजदूर लोग ऐसा कहने लग जायं? और अगर वे कहें, तो वह हंसी (मजाक) नहीं बल्कि सीधी-सादी न्याय की बात होगी। यदि एक श्रमजीवी ऐसा कहे तो बौद्धिक परिश्रम करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा उसकी यह बात कहीं अधिक न्यायोचित और ठीक होगी क्योंकि बुद्धि-सम्बन्धी काम करने वाले मनुष्य के परिश्रम की अपेक्षा श्रमजीवी मनुष्य का परिश्रम अधिक आवश्यक और उपयोगी है। फिर एक बुद्धि वाले मनुष्य के मार्ग में औरों को वह मानसिक भोजन देने में कोई रुकावट नहीं, जिसके देने का उसने वादा किया है; किन्तु श्रमजीवी मनुष्य तो शारीरिक भोजन इसलिए नहीं दे सकता कि खुद उसके पास भोजन की कमी रहती है।

तो फिर, हम मानसिक परिश्रम करने वाले मनुष्य क्या उत्तर देंगे यदि हमारे सामने ऐसी सीधी-सादी और न्यायोचित बातें पेश कर दी जायं। हम इन लोगों की कैसे पूर्ति करेंगे? हम यह भी नहीं जानते कि श्रम-जीवियों को किन बातों की आवश्यकता है। हम तो उनके रहन-सहन के तरीकों उनके भाव और उनकी भाषा को भी भूल गये हैं। हम तो ऐसे अन्धे हो गये हैं कि हमने अपने उस कर्तव्य को भी भुला दिया, जो हमने अपने ऊपर ले लिया है। हमें पता नहीं कि यह

परिश्रम हम किसलिए करते हैं, और जिन लोगों की सेवा का भार हमने अपने ऊपर लिया है, उनको हमने अपनी वैज्ञानिक एवं कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का एक लक्ष्य-मात्र बना लिया है। हम अपने अदर और मन-बहलाव के लिए उनका अध्ययन और उनकी गरीबी का ध्यान करते हैं। हम इस बात को बिलकुल भूल गये हैं कि हमारा कर्त्तव्य यह नहीं कि उनका अध्ययन करें और उनकी दशा पर लम्बे-चौड़े लेख लिखें, बल्कि यह है कि हम उनकी सेवा करें।

अब समय है कि हम सचेत हों, और अपनी दशा पर और भी सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करें। हमारी दशा ठीक उन धर्माधिकारियों के समान है,जो ईश्वर के साम्राज्य का कुंजी तो अपने हाथ में लिये हुए हैं, पर जो न तो खुद अन्दर घुसते हैं, और न दूसरों को घुसने देते हैं।

हम अपने भाइयों का जिन्दगी को खा रहे हैं और फिर भी अपने आपको सच्चे, धर्मनिष्ठ, दयालु, शिक्षित और पूर्ण पुण्यवान्‌ मनुष्य समझते हैं।

३

मज़रों के प्रति

Ye shall know the truth and the truth shall make you free —Jhon VIII-32

"तुम सत्य को पहचानो वही तुम्हें मुक्त करेगा" जॉन अ० ८ ३२

मेरे जीवन के अब अधिक दिन शेष नहीं हैं, और मरने के पहले, श्रम-जीवियो, मैं तुम्हें वे सारी बातें, जो मैंने तुम्हारी इस दलितावस्था के सम्बन्ध में सोची हैं, और सभी उपाय जिनसे तुम अपने आपको इससे मुक्त कर सकते हो, बतला देना चाहता हूँ।

सम्भवतः, मैंने इस सम्बन्ध में जो कुछ भी सोचा है (और मैंने इस विषय में बहुत-कुछ सोचा है) और अब भी जो सोच रहा हूँ, वह तुम्हारे लिए हितकर सिद्ध हो।

जैसा कि स्वाभाविक है, मैं ये बातें रूस के श्रम जीवियों को ही सम्बोधन करके कहता हूँ। उनके बीच में रहता हूँ, और उनको मैं दूसरे देशों में श्रम जीवियों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से जानता हूँ। पर मुझे आशा है, मेरे कुछ विचार दूसरे देशों के श्रम-जीवियों के लिए भी व्यर्थ सिद्ध न होंगे।

श्रम जीवियो, तुम अपनी सारी जिन्दगी दुःख दारिद्रय एवं कठिन परिश्रम में, जिसकी तुम्हारे लिए बिलकुल आवश्यकता नहीं है, बिताने के लिए मजबूर किये जाते हो, और दूसरे लोग जो कि ज़रा भी काम नहीं करते, तुम्हारी पैदा की हुई चीजों से फायदा उठाते हैं, और तुम

उनके दास होकर रहते हो, पर यह बात अब प्राय सभी सहृदय और समझदार मनुष्यों पर विदित हो गई है कि वास्तव में ऐसा नहीं होना चाहिए।

पर इस दशा को दूर करने का उपाय क्या है ?

पहला उपाय तो यह है, जो पुराने जमाने से बिलकुल सीधा और स्वाभाविक मालूम होता आया है कि जो लोग तुम्हारे परिश्रम से अनुचित लाभ उठाते हैं, उनसे वह जबरदस्ती छीन लिया जाय। यही बात प्राचीन समय में रोम के गुलामों ने और मध्यकालीन युग में जर्मनी तथा फ्रांस के किसानों ने की थी। स्टेंकारेज़िन तथा योगैको के समय में रूस के निवासियों ने भी इसी उपाय का अवलम्बन किया था। इस समय भी कभी-कभी स्वयं श्रमजीवी यही किया करते हैं।

दुःखित श्रमजीवी-समाज को दूसरे उपायों की अपेक्षा, यह उपाय सरल जरूर दिखाई देता है। पर तो भी इससे कभी उनके उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी। नहीं, बल्कि इससे तो उलटा उनकी दशा सुधरने की अपेक्षा और भी बिगड़ती चली जाती है। पुराने जमाने में, जब सरकारें आज की तरह शक्तिशालिनी नहीं थीं, ऐसी क्रांतियों से विजय की आशा की जा सकती थी। परन्तु इस समय तो, जब कि उनके हाथ में बड़े-बड़े खजाने, रेल, तार, पुलिस, फौज और सिपाही हैं, ऐसी क्रान्तियों का परिणाम, प्राय यही हुआ करता है कि उपद्रव करने वालों को नाना प्रकार के दण्ड और यातनायें भोगनी पड़ती हैं और वे फाँसी तक पर चढ़ा दिये जाते हैं। नतीजा यह निकलता है कि श्रम-जीवियों पर दूसरों की सत्ता और भी मजबूती के साथ जम जाती है।

श्रम जीवियो, हिंसा का मुकाबला हिंसा से करके, तुम वही कर रहे हो जो मजबूत रस्सों में बँधा हुआ मनुष्य भागने के अभिप्राय से उन्हीं रस्सों को पकड़कर खींचा करता है, जिनसे कि उसका सारा शरीर जकड़ा हुआ है। इससे तो उसके बन्धन की गाठें और भी अधिक कस जायँगी।

बल प्रयोग द्वारा छीनी हुई वस्तु को फिर से लेने के लिए बल का प्रयोग करना भी उसी के समान है।

(२)

यह बात अब प्रायः सभी पर विदित हो गई है कि इन उपद्रवों से हमारे उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होगी। इससे सुधरने की अपेक्षा श्रमजीवियों की अवस्था और भी बिगड़ जाती है। इसलिए श्रमजीवी समाज के हित चिन्तकों ने अथवा उनके हित चिन्तक होने का दावा करने वालों ने अभी हाल में श्रम-जीवियों को स्वतन्त्र करने के लिए एक नये उपाय का आविष्कार किया है। इस उपाय का मुख्य आधार यह शिक्षा है—' जिस ज़मीन के वे किसी समय मालिक थे, उसे छोड़कर वे कारखानों में मज़दूरी पर काम करने लगें। (और इस शिक्षा के अनुसार यह ऐसा ही अनिवार्य है, जैसा कि किसी नियत समय के ऊपर सूर्योदय का होना) फिर सभों और सभाओं की स्थापना करके और पार्लमेंट में अपने प्रतिनिधि भेजकर क्रमशः अपनी दशा सुधारते रहें और अन्त में समस्त कल-कारखानों और मिलों के, बल्कि पैदावार के सम्पूर्ण साधनों के, जिनमें ज़मीन भी शामिल है, मालिक बन बैठें, इससे बिलकुल स्वतन्त्र और सुखी [redacted] जायगे। यद्यपि जिस शिक्षा के आधार पर इस उपाय का आविष्कार हुआ है, वह अन्धकारमय, स्वेच्छिक विषय दिखाने वाली मनमानी शर्तों तथा विरोधी बातों से भरी हुई और बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है तो भी इधर कुछ दिनों से इसका बड़ा प्रचार [redacted] रहा है।

इस शिक्षा का केवल उन देशों ने ही नहीं अपनाया है, जिनमें अधिकांश जन-समुदाय ने पीढ़ियों से खेती छोड़ दी है, किन्तु उन देशों ने भी उसे मान लिया है, जिनमें मजूर-वर्ग ने ज़मीन छोड़ने के सम्बन्ध में अभी विचार भी नहीं किया है।

इस शिक्षा का पहला उद्देश्य यह है कि गाँवों में रहने वाले श्रमजीवी, अपने खेती-सम्बन्धी नाना प्रकार के कामों को छोड़कर, जिनके करने का उन्हें अभ्यास [redacted] गया है और जो स्वास्थ्य तथा सुख देने वाले

हैं, एक हा प्रकार के और हैरान कर देने वाले अस्वास्थ्यकर, कुत्सित तथा हानिकर कामों में लग जाय। इस शिक्षा का उद्देश्य यह है कि एक ग्रामीण अपनी उस प्यारी स्वतन्त्रता को छोड़कर जिसमें कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने ही परिश्रम से कर लेता है—कारखानों में काम करने वाले श्रम जीवियों का परतन्त्र जीवन बिताने लगे, और हर बात में अपने मालिक के आधीन हो जाय। जरा गौर करने पर मालूम होगा कि ऐसी शिक्षा को उन देशों में किसी प्रकार की कोई सफलता नहीं मिलनी चाहिए, न मिल सकती, जहां के अधिकांश श्रमजीवी अब भी अपना पेट खेती से पालते हैं।

लेकिन इस शिक्षा को, जो कि साम्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है, रूस जैसे देशों में भी, जहां पर ६८ प्रतिशत श्रम-जीवी-समाज की जीविका का साधन खेती है, उन दो प्रतिशत मनुष्यों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लिया है, जिन्होंने खेती को छोड़ दिया है।

इसका कारण क्या है? यह कि मजूर अपनी खेती को छोड़कर, उन प्रलोभनों के चंगुल में फंस जाता है, जो शहर और कारखानों के जीवन के साथ लगे हुए हैं। और उसके इन प्रलोभनों का समर्थन साम्यवादियों की शिक्षा से हो जाता है, जो आवश्यकताओं की वृद्धि को मनुष्य की उन्नति का एक चिन्ह समझता है।

ऐसे मजूर लोग साम्यवाद की इस शिक्षा की अधूरी बातों को लेकर बड़े जोश के साथ उसका अपने संगी-साथियों में प्रचार करते हैं और इस प्रकार तथा इन नवीन आवश्यकताओं के कारण, जिनको कि उन्होंने बिना प्रयोजन पैदा कर लिया है, अपने आपको उन्नतिशील सुधारक समझने लगते हैं और गांव के सीधा-सादा जिन्दगी बसर करने वाले किसानों से अपने आपको कहीं ज्यादा शिक्षित और दूरदर्शी गिनने लगे जाते हैं। सौभाग्य से रूस में ऐसे श्रमजीवियों की संख्या अभी बहुत थोड़ी है। रूस के अधिकांश श्रम जीवियों ने तो साम्य-

वादियों की इस शिक्षा का कभी नाम तक नहीं सुना है[1] और यदि इस सम्बन्ध में कोई बात वे सुनें भी तो इस शिक्षा को अपने लिए एक बिलकुल नई और अनावश्यक बात समझते हैं। जिसका उनकी सच्ची जरूरतों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

यूनियन कायम करना, जुलूस निकालना, पार्लमेंट में अपने प्रतिनिधि भेजना आदि साम्यवादियों की इन सारी बातों से जिनकी सहायता से कारखानों में काम करनेवाले श्रमजीवी अपने इस दास-जीवन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने वाले ग्रामीण श्रम-जीवियों को कोई भी दिलचस्पी नहीं।

गाँव के मजूरों को इस बात की जरूरत नहीं कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाय या उनके काम करने के घंटे कम कर दिये जायँ अथवा सहयोगी सस्थाएँ खोली जायँ बल्कि उनके लिए सबसे जरूरी है एक चीज़—जमीन। जमीन सभी जगह उनके पास इतनी कम है कि उससे वे अपने कुटुम्ब का पेट भी नहीं भर सकते। परन्तु इसके सम्बन्ध में, जिसकी गाँवों के लोगों को सबसे ज्यादा जरूरत है, साम्यवादियों की ओर से कुछ भी नहीं कहा गया है।

विद्वान् साम्यवादी कहते हैं—"कमाई का साधन चीजें हैं खानें, कल-कारखाने और इसके बाद जमीन।" वे कहते हैं कि, मजूरों को चाहिए कि जमीनें लेने के लिए पहले वे मिलों और कारखानों पर अधिकार प्राप्त करें और इस तरह पूँजीपतियों पर विजय पा लेने के बाद जब ये सब चीजें उनके हाथों में आ जायगी तब वे जमीन पर भी अपना अधिकार कर सकेंगे। आश्चर्य यह है कि लोगों को तो जमीन की जरूरत है परन्तु उनसे कहा यह जाता है कि उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें पहले उसे छोड़ देना होगा, इसके बाद एक बहुत ही पेचीदा ढंग से, जिसका आविष्कार साम्यवाद का दम भरनेवाले महापुरुषों ने ही किया है मिलों और कारखानों के सहित जिनकी बेचारे मजूरों को

[1]ये बातें रूसी क्रान्ति के पहले की हैं, समय-चक्र ने इन्हें असत्य सिद्ध कर दिया है। —सम्पादक।

बिलकुल आवश्यकता नहीं है, उसे वे फिर प्राप्त कर लेंगे। यह तो वही ढंग हुआ जैसा कि कुछ सूदखोर महाजन किया करते हैं। आप एक महाजन से एक हजार रुपये मांगते हैं, सिर्फ एक हजार रुपये की जरूरत है, लेकिन महाजन आपसे कहता है,—"मैं आपको सिर्फ एक ही हजार रुपये नहीं दूंगा, आप पांच हजार रुपये लीजिए, जिनमें से चार हजार के मालूम के टुकड़े, रेशमी कपड़ा और बहुत-सी चीजें होंगी।" यद्यपि आपको तो इनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है, फिर भी वह तो आपको एक हजार रुपये इसी शर्त पर दे सकता है। यह साम्यवादियों की दलील भी ठीक ऐसी ही है।

साम्यवादी लोगों ने बिलकुल ही गलत तौर पर यह तय कर रखा है कि जमीन परिश्रम करने का वैसा ही साधन है, जैसे कि मिल अथवा कारखाने, और श्रम जीवियों को, जो केवल जमीन न होने के कारण ही कष्ट उठा रहे हैं यह सलाह देते हैं कि वे अपनी जमीनों को छोड़ दें, और उन कारखानों पर कब्जा करने में लग जायं, जिनमें तोप, बन्दूक, इत्र-तेल, साबुन, शीशे-सीसे और हर प्रकार की विलासिता की सामग्री तैयार की जाती है। कारखानों पर अधिकार कर चुकने के बाद जब मजूर शीशा अथवा छाता आदि वस्तुएं शीघ्रता और उत्तमता के साथ बनाना सीख चुके होंगे और जमीन के जोतने-बोने और उस पर काम करने के बिलकुल अयोग्य हो गये होंगे—तब उन्हें जमीन पर भी कब्जा करने को कहा जाता है।

(३)

खेती करना और उसमें अपना पेट भरना सुखमय और स्वतन्त्र मनुष्य जीवन की एक मुख्य बात रही है और भविष्य में भी हमेशा रहेगी। यह बात सभी लोग सर्वत्र जानते हैं और इसलिए सभी मनुष्य किसी ऐसे जीवन के लिए हमेशा प्रयत्न करते हैं और आगे भी करते ही रहेंगे, जैसे कि पानी में जाने के लिए मछली किया करती है।

परन्तु साम्यवादियों का कहना है कि मनुष्यों का जीवन सुखमय

वादियों की इस शिक्षा का कभी नाम तक नहीं सुना है, और यदि इस सम्बन्ध में कोई बात वे सुनें भी तो इस शिक्षा को अपने लिए एक बिल्कुल नई और अनावश्यक बात समझते हैं। जिसका उनकी सच्ची जरूरतों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

यूनियन कायम करना, जुलूस निकालना, पार्लमेण्ट में अपने प्रतिनिधि भेजना आदि साम्यवादियों की इन सारी बातों से, जिनकी सहायता से कारखानों में काम करनेवाले श्रम जीवी अपने इस दास-जीवन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने वाले ग्रामीण श्रम जीवियों का कोई भी दिलचस्पी नहीं।

गांव के मजूरों को इस बात की जरूरत नहीं कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाय या उनके काम करने के घंटे कम कर दिये जाय अथवा सहयोगी संस्थाएं खोली जाय, बल्कि उनके लिए सबसे जरूरी है एक चीज—जमीन। जमीन सभी जगह उनके पास इतनी कम है कि उससे वे अपने कुटुम्ब का पेट भी नहीं भर सकते। परन्तु इसके सम्बन्ध में, जिसकी गांवों के लोगों को सबसे ज्यादा जरूरत है साम्यवादियों की ओर से कुछ भी नहीं कहा गया है।

विद्वान् साम्यवादी कहते हैं— झगड़े की खास चीजें हैं खानें, कल-कारखाने और इसके बाद जमीन।" वे कहते हैं कि, मजूरों को चाहिए कि जमीनें लेने के लिए पहले वे मिलों और कारखानों पर अधिकार प्राप्त करें और इस तरह पूंजीपतियों पर विजय पा लेने के बाद जब ये सब चीजें उनके हाथों में आ जायगी, तब वे जमीन पर भी अपना अधिकार कर सकेंगे। आश्चर्य यह है कि लोगों को तो जमीन की जरूरत है, परन्तु उनसे कहा यह जाता है कि उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें पहले उसे छोड़ देना होगा, इसके बाद एक बहुत ही पेचीदा ढंग से, जिसका आविष्कार साम्यवाद का दम भरनेवाले महापुरुषों ने ही किया है मिलों और कारखानों के सहित जिनकी बेचारे मजूरों को

१ ये बातें रूसी क्रान्ति के पहले की हैं समय-चक्र ने इन्हें असत्य सिद्ध कर दिया है। —सम्पादक।

बिलकुल आवश्यकता नहीं है, उसे वे फिर प्राप्त कर लेंगे। यह तो वही ढंग हुआ जैसा कि कुछ सूदखोर महाजन किया करते हैं। आप एक महाजन से एक हजार रुपये मांगते हैं, सिर्फ एक हजार रुपये की जरूरत है, लेकिन महाजन आपसे कहता है,—"मैं आपको सिर्फ एक ही हजार रुपये नहीं दूंगा, आप पांच हजार रुपये लीजिए, जिनमें से चार हजार के साबुन के टुकड़े, रेशमी कपड़ा और बहुत-सी चीजें होंगी।" यद्यपि आपको तो इनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है फिर भी वह तो आपको एक हजार रुपये इसी शर्त पर दे सकता है। यह साम्यवादियों का दलाल भी ठीक ऐसा ही है।

साम्यवादी लोगों ने बिलकुल ही गलत तौर पर यह तय कर रक्खा है कि जमीन परिश्रम करने का वैसा ही साधन है, जैसे कि मिल अथवा कारखाने, और श्रम-जीवियों को, जो केवल जमीन न होने के कारण ही कष्ट उठा रहे हैं यह सलाह देते हैं कि वे अपनी जमीनों को छोड़ दें, और उन कारखानों पर कब्जा करने में लग जांय, जिनमें तोप, बन्दूक, इत्र-तेल, साबुन, शीशे-सीते और हर प्रकार की विलासिता की सामग्री तैयार की जाती है। कारखानों पर अधिकार कर चुकने के बाद जब मजूर शीशा अथवा फीता आदि वस्तुएं शीघ्रता और उत्तमता के साथ बनाना सीख चुके होंगे और जमीन के जोतने-बोने और उस पर काम करने के बिलकुल अयोग्य हो गये होंगे—तब उन्हें जमीन पर भी कब्जा करने को कहा जाता है।

(३)

खेती करना और उससे अपना पेट भरना सुखमय और स्वतन्त्र मनुष्य जीवन की एक मुख्य शर्त रही है और भविष्य में भी हमेशा रहेगी। यह बात सभी लोग स्वयं जानते हैं और इसलिए सभी मनुष्य किसी ऐसे जीवन के लिए हमेशा प्रयत्न करते हैं और आगे भी करते ही रहेंगे, जैसे कि पानी में जाने के लिए मछली किया करती है।

परन्तु साम्यवादियों का कहना है कि मनुष्यों का जीवन सुखमय

बनाने के लिए उन्हें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वे जंगलों और पशुओं के बीच में रहें, जहां पर लोग लगभग अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति खेतों में काम करके ही कर सकते हैं। उनके खयाल से तो लोग ऐसे स्थानों में रहना चाहते हैं, जो उद्योग धन्धों और कारीगरी के केन्द्र स्थान हैं, जहां का वायु बहुत ही दूषित है और लोगों की जरूरतें दिन पर दिन बढ़ती ही रहती हैं, और जिनकी पूर्ति कारखानों में रात दिन, शक्ति से अधिक, काम करके ही की जा सकती है। कारखानों के इस जीवन में फंसे हुए बेचारे मजूर भी इस बात पर विश्वास कर लेते हैं और यह समझकर कि वे कोई बहुत बड़ा और जरूरी काम कर रहे हैं, अपनी सारी शक्ति पूंजीपतियों के साथ इस बात की लड़ाई लड़ने में लगा देते हैं कि उनके काम करने के घंटे घटा दिये जायं और मजदूरी बढ़ा दी जाय, जब कि वास्तव में, जमीन से अलग कर दिये गये मजूरों के लिए सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि वे किसी प्रकार ऐसे उपाय की खोज करें, जिससे फिर जमीन प्राप्त करके खेती कर सकें और प्रकृति के साथ आनन्दमय नैसर्गिक जीवन व्यतीत कर सकें। उन्हें अपनी सारी शक्ति इसी बात में लगा देनी चाहिए। साम्यवादी कहते हैं—"अगर यह बात सच भी हो कि प्रकृति की गोद में रहना कल-कारखानों के जीवन की अपेक्षा अधिक अच्छा है, तो भी कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवियों की संख्या इस समय इतनी बढ़ गई है और कृषक-जीवन से अलग हुए उनको इतना समय होगया है कि अब कृषक-जीवन में वापस आना उनके लिए बिल्कुल सम्भव ही नहीं है। यह असम्भव इसलिए है कि इस प्रकार शहराती जीवन से देहाती जीवन को लौट आने से व्यर्थ ही उन चीजों की पैदावार कम हो जायगी, जो इन कारखानों में तैयार की जाती हैं और जो राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक अङ्ग है और यदि मान लिया जाय कि ऐसा न भी हो तो भी अब जमीन इतनी काफी कहां है, जिससे कारखानों में काम करने वाले सभी आदमियों का आराम के साथ भरण-पोषण हो सके?"

पर यह बात गलत है कि कारखानों में काम करने वाले आदमियों के फिर से गावों में लौटने और खेती में लग जाने से राष्ट्र की सम्पत्ति घट जायगी। क्योंकि खेती करने वाले अपना थोड़ा-सा समय घर पर या कारखानों में जाकर भी तो दूसरे उद्योग धन्धों में लगा सकते हैं। उन्हें कौन रोकता है? हां, बल्कि इस फेर-बदल से यदि बड़े-बड़े कारखानों में तेजी से तैयार होने वाली अनुपयुक्त और हानिकर चीजों की पैदावार कम हो जाय और साधारणतया आवश्यक वस्तुओं का भी आवश्यकता से अधिक तैयार करना बन्द हो जाय, तथा अन्न, साग भाजी, फल और घरलू पशुओं की संख्या बढ़ जाय, तो इससे किसी भी प्रकार से राष्ट्र की सम्पत्ति कम नहीं हो सकती, बल्कि उलटी उसमें वृद्धि ही हो जायगी।

यह दलील भी ठीक नहीं है कि जमीन इतनी काफी न हो सकेगी कि कारखानों में काम करने वाले सभी आदमियों का आराम से साथ भरण पोषण हो सके। क्योंकि अधिकांश देशों में वह जमीन जो बड़े-बड़े जमींदारों की सम्पत्ति है, कुल श्रम-जीवियों के भरण पोषण के लिए काफी होगी, अगर जमीन की जुताई-बुवाई पूर्णत आधुनिक ढंग से की जाय, अथवा केवल उस तरह भी की जाय, जैसे सहस्त्रों वर्ष पूर्व चीन देश में की जाती थी।

इस विषय मे प्रेम रखने वाले सज्जन क्रोपॉटकिन के "दि कांकेस्ट ऑव् ब्रेड"[1] और "फील्डस, फैक्टरीज एण्ड वर्कशाप्स" (खेत, कारखाने और कार्यालय) नामक पुस्तकों को पढ़ें। तब उनको पता चल जायगा कि अच्छी जुताई-खुदाई से जमीन की पैदावार किस हद तक बढ़ जाती है, और उतनी ही जमीन से कितने अधिक आदमियों को भोजन मिल सकता है। धीरे धीरे छोटे-छोटे किसान भी वैज्ञानिक ढंग से खेती करना आरम्भ कर देंगे, अगर वे अपना सारा मुनाफा धनी

[1] इस पुस्तक का अनुवाद हमारे यहाँ से निकल चुका है। नाम 'रोटी का सवाल' और दाम १) है।

ज़मींदारों के हवाले कर देने के लिए मजबूर न किये जायं, जैसा कि अभी किया जाता है। साधारणतया ज़मींदार लोगों को जो कि इन गरीब किसानों को अपनी ज़मीनें किराये पर देते हैं उपज बढ़ाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि उन्हें तो, बिना किसी कष्ट उठाये ही काफी रकम मालगुजारी में मिलती रहती है।

एक दलील और है। "ज़मीन इतनी कहां है, जो सब मजूरों को मुफ्त दी जा सके। इसलिए अब इस बात पर परेशान न होइए।" कैसी अजीब बात है? पहले तो किसानों से ज़मीनें छीनी जाती हैं और अब कहा जाता है कि ज़मीनें काफी नहीं हैं, परेशान मत होइए। एक मकान बिलकुल खाली पड़ा हुआ है, और कुछ आदमी शीतकाल में भयंकर तूफानों के समय उस मकान के बाहर खड़े हुए आश्रय के लिए, प्रार्थना कर रहे हैं। मकान का मालिक कहता है—"मकान के भीतर इन आदमियों को आने देना उचित नहीं है क्योंकि उसमें उन सबके लिए जगह न मिल सकेगी।" उपर्युक्त ज़मीन वाली दलील भी ठीक ऐसी ही है, ठीक तो यह है कि जो लोग आश्रय के लिए प्रार्थना कर रहे हैं,उनको आने दिया जाय फिर इसके बाद देखा जायगा कि उसमें उन सबके लिए स्थान मिल सकता है, या केवल थोड़े-से आदमियों के लिए ही। अगर उन सबके लिए स्थान मिल सके, तो जो लोग उसमें आ सकते हैं उन्हीं को क्यों न स्थान दिया जाय?

ठीक यही बात ज़मीन के सम्बन्ध में भी है। जो ज़मीनें श्रमजीवियों से ले ली गई हैं, उन्हीं लोगों के हवाले कर देना सर्वश्रेष्ठ मार्ग है,फिर यह देखा जायगा कि यह ज़मीन सबके लिए काफी होगी या नहीं।

यह बिलकुल गलत है कि दुनिया के सभी मजूर आदमियों के लिए ज़मीन काफी न होगी। अगर कारखानों में काम करने वाले आदमियों का निर्वाह बाज़ार से खरीदे हुए अन्न के ऊपर हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि दूसरों का पैदा किया हुआ अन्न मोल लेने के बदले वे स्वयं इस ज़मीन को क्यों न जोतें और बोवें, फिर वह ज़मीन

हिन्दुस्तान, अर्जेन्टाइन, आस्ट्रेलिया, साइबेरिया, अथवा और कहीं पर भी क्यों न हो।

इसलिए तमाम वे सब दलीलें बेबुनियाद हैं जिनमें कहा जाता है कि कारखानों में काम करने वाले मजूरों को खेती नहीं करनी चाहिए या उनके लिए इतनी जमीन नहीं मिल सकती या वे खेती कर ही नहीं सकते। इसके विपरीत यह बात साफ है। ऐसे फेर-बदल से जनता को हानि के बदले उपकार ही अधिक होगा और निश्चय ही इससे भारतवर्ष तथा रूस आदि देशों से अकालों का समूल नाश हो जायगा, जो बहुत समय से वहा अड्डा जमाये हुए हैं। ये अकाल इस बात को बताते हैं कि आजकल जमीन का जो बटवारा किया गया है, वह बिलकुल अनुचित और गलत रीति पर किया गया है।

हाँ, यह सच है कि जिन देशों में कल-कारखानों के व्यवसाय ने बहुत उन्नति कर ली है, जैसा कि इङ्गलैण्ड, बेल्जियम तथा संयुक्त-राज्य (अमेरिका), के कुछ स्थानों में है, वहा के श्रमजीवियों का जीवन बिलकुल भिन्न हो गया है। उनका, अब देहातों में वापस लौट आना और खेती करने लग जाना बहुत कठिन जान पड़ता है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका देहातों में लौट आना ठीक नहीं। और इससे किसी प्रकार का लाभ होने की सम्भावना नहीं। इस पर अमल करने के लिए सबसे पहले जरूरत इस बात की है कि मजूर लोग यह समझ लें कि उनके हित के ख्याल से गाँव में लौट आना उनके लिए बहुत जरूरी है। और उन्हें चाहिए कि वे अपने कारखानों के इस दास्य-जीवन को ऐसा न समझ लें, जो हमेशा टिकने वाला हो अथवा जिसमें कोई फेर-बदल न हो सकता हो। वे निश्चयपूर्वक जान लें कि उनका यह जीवन प्रकृति के विरुद्ध है। और उसको बदल देने में ही उनका भला है। और यह समझ कर वे इस-पर अमल करने के उपाय ढूंढने में लग जाय।

इस प्रकार उन मजूरों को, जिन्होंने बहुत काल से अपने बाप-दादों की जमीनें और घर-बार छोड़ दिये हैं और जो कारखानों में काम करके

अपना पेट पाल रहे हैं, इस बात की जरूरत नहीं कि वे अपने मजूर संघ बना लें और हड़तालें करें और बच्चों की तरह सड़कों पर जुलूस निकालें। उनके लिए तो सिर्फ एक बात की जरूरत है, और वह यह कि वे ऐसे उपायों की खोज करें, जो उन्हें कारखानों की इस गुलामी से मुक्त करदें और जमीन के ऊपर उन्हें अधिकार दिला सकें। उनके मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है, जमींदारों द्वारा जमीन पर अनुचित अधिकार कर लेना। जमींदार कभी जमीन पर खुद काम नहीं करते, पर जमीन पर अधिकार जमाये बैठे हैं। यही एक बात है जिसके लिए मजूरों को अपने शासकों से प्रार्थना करनी चाहिए और अपनी माँग पेश करनी चाहिए। उसमें जरा भी डरने की बात नहीं है। जमीन उनकी है अतः उसे मांगना अपने निश्चित और न्यायोचित अधिकार को वापस माँगना होगा। जमीन के ऊपर रहना, और उस पर मेहनत करके अपना पेट भरना प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक अधिकार है। इसके लिए किसी से आज्ञा माँगने की कोई जरूरत नहीं।

(४)

जमीन पर से खानगी मालिकी का अन्त कर देना अब बहुत जरूरी हो गया है। क्योंकि जमींदारों के अन्याय, स्वेच्छाचारिता और अत्याचार की अब हद हो गई है। पर प्रश्न केवल यही है कि इसका अन्त हो किस प्रकार? रूस तथा अन्य सभी देशों में गुलामी की प्रथा का अन्त सरकार की आज्ञा से किया गया था और ऐसा जान पड़ता है कि भूमि का किसी एक व्यक्ति अथवा समाज की सम्पत्ति मानने की प्रथा का भी अन्त इसी प्रकार सरकार की ओर से जारी की गई आज्ञाओं से हो सकता है। परन्तु सरकारें प्रायः ऐसी आज्ञायें बहुत कम दिया करती हैं।

सभी सरकारें ऐसे ही आदमियों की बनी हुई हैं, जो दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना चाहते हैं और दूसरे वालों की अपेक्षा जमींदारी की प्रथा में ऐसे जीवन की सम्भावना बहुत कुछ है। केवल

शासक और जमींदार-समाज के ही लोग इस प्रथा का अन्त करने का विरोध न करेंगे, बल्कि वे लोग भी जो सरकारी कर्मचारी अथवा जमींदार न होते हुए भी धनिक-समाज तथा ऐसे सरकारी कर्मचारियों, शिल्पकारों, वैज्ञानिकों और व्यापारियों के पास नौकर हैं। वे यह समझकर इसका अन्त करने में विरोध करेंगे कि उनके ऐशो आराम का सारा दारोमदार इस जमींदारी के ऊपर है। वे सदैव उसका समर्थन करते हैं अथवा और सभी ऐसी बातों की आलोचना करते हैं, जो इससे कम महत्त्व की हैं, पर जमींदारी के प्रश्न को कभी छूते तक नहीं हैं।

अधिकांश सफेदपोश लोग, अगर जान बूझकर, नहीं तो अज्ञान से ही, यह समझते हैं कि उनकी अच्छी स्थिति का कारण जमींदारी ही है।

यही कारण है कि राष्ट्रीय महासभाएँ (पार्लमेंट) लोगों को यह दिखलाने भर के लिए कि वे जनता की शुभ चिन्तक हैं, और वे जो कुछ भी करती हैं उसकी भलाई के ख्याल से ही करती हैं, ऐसे अनेक प्रस्तावों पर वाद विवाद करती हैं और उनपर अमल करना भी आरम्भ कर देती हैं, जिनसे वे बतलाती हैं, लोगों की दशा सुधरेगी। पर एक बात को वे सब बिलकुल छोड़ देती हैं, जिसकी लोगों को सबसे अधिक आवश्यकता है और जिससे लोगों की दशा का वास्तविक सुधार हो सकता है और वे एक उन्नत राष्ट्र बन सकते हैं। यह बात क्या है? यही जमीन पर से खानगी मालिकी का अंत कर देना।[1] इस आन्दोलन को वे छूती तक नहीं हैं।

इसलिए जमीन पर से वैयक्तिक अधिकार उठा देने के प्रश्न को हल करने के लिए सबसे पहले आवश्यकता इस बात की है कि इस

---

1 सच्चे साम्यवादी तो सदा इस पर जोर देते रहे। यह टाल्स्टाय का भ्रम है। पिछले उदाहरणों से उनका यह बात गलत हो रहा है।

—सम्पादक।

अपना पेट पाल रहे हैं, इस बात की जरूरत नहीं कि वे अपने मजूर सं
बना लें और हड़तालें करें और बच्चों की तरह सड़कों पर जुलूस निकालें
उनके लिए तो सिर्फ एक बात की जरूरत है, और वह यह कि वे ऐसे
उपायों की खोज करें, जो उन्हें कारखानों की इस गुलामी से मुक्त करें
और जमीन के ऊपर उन्हें अधिकार दिला सकें। उनके मार्ग में सबसे
बड़ी रुकावट है, जमींदारों द्वारा जमीन पर अनुचित अधिकार कर लेना
जमींदार कभी जमीन पर खुद काम नहीं करते, पर जमीन पर अधिकार
जमाये बैठे हैं। यही एक बात है जिसके लिए मजूरों को अपने शासकों
से प्रार्थना करनी चाहिए और अपनी मांग पेश करनी चाहिए। उसमें
जरा भी डरने की बात नहीं है। जमीन उनकी है, अतः उन्हें मांगना
अपने निश्चित और न्यायोचित अधिकार को वापस मांगना होगा। जमीन
के ऊपर रहना, और उस पर मेहनत करके अपना पेट भरना प्रत्येक प्राणी
का स्वाभाविक अधिकार है। इसके लिए किसी से आज्ञा मांगने की कोई
जरूरत नहीं।

(४)

जमीन पर से रुजगी मालिकी का अन्त कर देना अब बहुत
जरूरी हो गया है। क्योंकि जमींदारों के अन्याय, स्वेच्छाचारिता और
अत्याचार की अब हद हो गई है। पर प्रश्न केवल यही है कि इसका
अन्त हो किस प्रकार? रूस तथा अन्य सभी देशों में गुलामी की
प्रथा का अन्त सरकार की आज्ञा से किया गया था और ऐसा जान
पड़ता है कि भूमि को किसी एक व्यक्ति अथवा समाज की सम्पत्ति
मानने की प्रथा का भी अन्त इसी प्रकार सरकार की ओर से जारी की
गई आज्ञाओं से हो सकता है। परन्तु सरकारें प्रायः ऐसी आज्ञायें
बहुत कम दिया करती हैं।

सभी सरकारें ऐसे ही आदमियों की बनी हुई हैं, जो दूसरों की
कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना चाहते हैं; और दूसरी बातों की अपेक्षा
जमींदारी की प्रथा में ऐसे जीवन की सम्भावना बहुत कुछ है। केवल

शासक और जमींदार-समाज के ही लोग इस प्रथा का अन्त करने का विरोध न करेंगे, बल्कि वे लोग भी जो सरकारी कर्मचारी अथवा जमींदार न होते हुए भी धनिक-समाज तथा ऐसे सरकारी कर्मचारियों, शिल्पकारों, वैज्ञानिकों और व्यापारियों के पास नौकर हैं। वे यह समझकर इसका अन्त करने में विरोध करेंगे कि उनके ऐशो आराम का सारा दारोमदार इस जमींदारी के ऊपर है। वे सदैव उसका समर्थन करते हैं अथवा और सभी ऐसी बातों की आलोचना करते हैं, जो इससे कम महत्व की हैं, पर जमींदारी के प्रश्न को कभी छूते तक नहीं हैं।

अधिकांश सफेदपोश लोग, अगर जान बूझकर, नहीं तो अज्ञान से ही, यह समझते हैं कि उनकी अच्छी स्थिति का कारण जमींदारी ही है।

यही कारण है कि राष्ट्रीय महासभाएं (पार्लमेंट) लोगों को यह दिखलाने भर के लिए कि वे जनता की शुभ चिन्तक हैं, और वे जो कुछ भी करती हैं उसकी भलाई के ख्याल से ही करती हैं, ऐसे अनेक प्रस्तावों पर वाद विवाद करती हैं और उन पर अमल करना भी आरम्भ कर देती हैं, जिनसे वे बतलाती हैं, लोगों की दशा सुधरेगी। पर एक बात को वे सब बिलकुल छोड़ देती हैं, जिसकी लोगों को सबसे अधिक आवश्यकता है और जिससे लोगों की दशा का वास्तविक सुधार हो सकता है और वे एक उन्नत राष्ट्र बन सकते हैं। वह बात क्या है? यही जमीन पर से ख़ानगी मालिकी का अंत कर देना।[1] इस आंदोलन को वे छूती तक नहीं हैं।

इसलिए जमीन पर से वैयक्तिक अधिकार उठा देने के प्रश्न को हल करने के लिए सबसे पहले आवश्यकता इस बात की है कि इस

---

1 सच्चे साम्यवादी तो सदा इस पर जोर देते रहे। यह टाल्सटाय का भ्रम है। पिछले उदाहरणों से उनकी यह बात गलत हो गई है।
—सम्पादक।

विषय में लोगों ने जो खामोशी अख्तियार कर रखी है, उसका अत कर दिया जाय। यह खामोशी उन देशों म अख्तियार की जाती है, जहा पर बहुत कुछ शक्ति पार्लमेंटों के हाथ में है। फिर रूस में तो सारी शक्ति बादशाह ज़ार के हाथ में है, अत यहां जमींदारी का अन्त करने के लिए सरकारी आशा और भी कम सम्भव है। पर रूस में भी नाम मात्र के लिए ज़ार के हाथ में शक्ति है। वास्तव में यह शक्ति केवल दैव के कारण उन सैंकड़ों—हजारों लोगों के हाथों म है, जो ज़ार के सम्बन्धी और साथी हैं और जो उससे जबरदस्ती अपनी सारी मनचाही बातें करा लेते हैं। इन सभी आदमियों के पास हजारों बीघा जमीन है। इसलिए वे ज़ार को, यदि वह एसा करना चाहे तो भी जमींदारों के पंजे से जमीन को निकालने न देंगे। जिस समय ज़ार ने किसानों को स्वतन्त्र किया था, उस समय उन्हें अपने अपने गुलामों को आजाद कर देने के लिए अपने निकटस्थ लोगों पर जोर देने में बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। पर यह फिर भी इसलिए हो सका कि असल चीज़ जमीन तो जमींदारों के हाथ में ही बनी रही। लेकिन अगर वे जमीन पर से अपना अधिकार उठा लें तो ज़ार के सम्बन्धियों तथा मित्रों का यह निश्चय है कि जिस प्रकार का जीवन वे इस समय बिता रहे हैं और बहुत समय से जिसके वे आदी हो रहे हैं, उसकी जो कुछ भी आशा रह गई है, वह भी हाथ से जाती रहेगी।

इसलिए इस बात की आशा करना व्यर्थ है कि संसार की सरकारें विशेष कर हमारी सरकार, जमीन को जमींदारों के पंजे से निकाल कर प्रजा के हाथ म दे देगी।

बल प्रयोग से भी जमींदारों से जमीन का छीन सकना असम्भव है, क्योंकि शक्ति हमेशा उन लोगों के हाथ में रही है और रहेगी,

---

१अब ये बातें पुरानी पड़ गई हैं और काल के गर्त में विलीन हो गई हैं। —सम्पादक।

जिन्होंने जमीन को पहले से ही अपने अधिकार में कर लिया है।

साम्यवादियों की रीति के अनुसार जबतक जमीन वापस नहीं मिल जाती, तब तक ठहरे रहना—अर्थात् भविष्य में अधिक की आशा से अपनी दशा और भी खराब बना देने के लिए तैयार हो जाना निरी मूर्खता है। क्योंकि प्रत्येक विचारवान् पुरुष इस बात को जानता है कि यह तरीका श्रम-जीवियों को आजाद करने के बदले उन्हें पूंजी पतियों का और भी अधिक गुलाम बना देता है और उन्हें ऐसा कर देता है कि भविष्य में वे उन मैनेजरों की गुलामी करें, जो नई-नई संस्थाएं खोलकर उनके सञ्चालक बनेंगे।

किसी भी प्रतिनिधि सरकार से अथवा, जैसा कि रूस के किसानों ने दो राजाओं के राज्य-काल में किया है, जार से इस बात की आशा करना और भी अधिक मूर्खता होगी कि वे जमीन को जमींदारों की व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाने की इस प्रथा का अन्त कर देंगे। क्योंकि जार के सम्बन्धियों तथा स्वयं जार के पास भी बहुत बड़े-बड़े इलाके हैं, और यद्यपि प्रकट में उनका यह कहना है कि वे किसानों के हितचिन्तक हैं, तथापि जमीन एक ऐसी चीज है जिसकी उनको परमावश्यकता है अतः वे उसे कभी न छोड़ेंगे। क्योंकि यह बात वे भली प्रकार जानते हैं कि यदि वे जमीन के मालिक न रहे तो उन्हें अपनी इस ऐशो-आराम की जिन्दगी से, जो कि वे दूसरों की गाढ़ी कमाई का उपभोग करके बिता रहे हैं, हाथ धोना पड़ेगा।

तो फिर मजूर लोग जिस अत्याचार का शिकार बन रहे हैं, उससे अपने आपको मुक्त करने के लिए उन्हें किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए?

(५)

पहले तो ऐसा जान पड़ता है कि इसका कोई उपाय ही नहीं है, मजूर लोग गुलामी की जञ्जीरों में इस तरह जकड़े हुए हैं कि उनका स्वतन्त्र होना अब संभव ही नहीं। परन्तु यह भ्रम है। मजूरों को

अपनी मुक्ति का उपाय खोजने के लिए पहले अपने अत्याचारों का कारण खोजना चाहिए। और जब वे ऐसा करेंगे तब वह देखेंगे कि खून-खच्चर करने व साम्यवादियों के बतलाये मार्ग पर चलने तथा सरकार से सहायता प्राप्त करने की व्यर्थ आशाएं रखने के अतिरिक्त अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के ऐसे साधन उनको प्राप्त हैं, जिनमें कोई कभी बाधक नहीं हो सकता। और ये साधन सदैव से उनके हाथ में रहे हैं, और आगे भी रहेंगे।

वास्तव में मजूरों की इस दुःखपूर्ण और शोचनीय अवस्था का केवल एक ही कारण है—यही कि जिस ज़मीन की मजदूरों को जरूरत है, वह ज़मींदारों के अधिकार में है। परन्तु ज़मींदार भला इस ज़मीन को अपने अधिकार में किस प्रकार रख सकते हैं?

पहले तो इस तरह कि, जिस समय मजूरों की ओर से इस ज़मीन को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न किया जायगा, उस समय उनके इस कार्य का विरोध करने के लिए फौजें भेजी जायगी। वे ज़मीन पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करने वालों को मारकर भगा देंगी और जरूरत पड़ने पर उन्हें यमलोक तक पहुंचा देने में कोई कसर बाकी न रखेंगी। इस तरह वे फिर ज़मींदारों को ज़मीन सौंप देंगी। परन्तु ज़रा सोचो तो, इन सेनाओं में सैनिक कहां से आते हैं? सेनाओं के सैनिक, श्रमजीवियो, तुम्हीं तो हो। श्रमजीवियो, तुम्हीं तो सैनिक बन कर और सत्ता के अधिकारियों की आज्ञा का पालन करते हुए ज़मींदारों के उस चीज़ का मालिक बनने में सहायक होते हो, जो वास्तव में उनकी नहीं सर्व-साधारण की और इसलिए तुम्हारी भी सम्पत्ति है। पर तुम सिर्फ यही नहीं करते। तुम उनकी (ज़मींदारों की) इस ज़मीन पर काम करके और उसे लगान पर लेकर उनकी और भी सहायता करते हो। श्रमजीवियो! तुम्हें चाहिए कि तुम ये सब बातें छोड़ दो। फिर तुम देखोगे कि ज़मींदारों की ज़मीन को अपने अधिकार में रखना व्यर्थ ही नहीं वरन् असंभव हो जायगा और यह ज़मीन सार्वजनिक

सफल हो जायगी। परन्तु सम्भव है, ऐसी दशा में जमींदार मजूरों के स्थान में यन्त्रों से काम लेने लगें और खेती करने के स्थान में पशु-पालन, उनकी सन्तान बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने तथा जंगलों की रक्षा और वृद्धि आदि का काम आरम्भ कर दें। पर वे कुछ भी करें, तुम निश्चय पूर्वक जानो कि, श्रमजीवियो, तुम्हारे बिना उनके लिए अपना काम चलाना असम्भव हो जायगा और तब एक एक करके उन सबको मजूर होकर अपनी अपनी जमीन छोड़नी ही पड़ेगी।

इस प्रकार श्रमजीवियो! इस गुलामी और दारिद्र्य से मुक्त होने का एक मात्र साधन यही है कि तुम पहले यह समझ लो कि जमीन पर किसी एक व्यक्ति अथवा समाज विशेष का अधिकार कर लेना एक भारी अपराध है। जब तुम यह समझ लो, तो दूसरा काम यह है कि तुम कभी फौजों में नौकरी न करो। क्योंकि फौजों के बल पर ही तो ये लोग किसानों और मजूरों से जमीनें छीनते हैं। एक बात और है। जमींदारों की जमीनों पर काम करना, एवं उन्हें लगान पर लेना भी उनको जमीन का उन्हें मालिक बने रहने देने में सहायता करना है। इसीलिए उनकी जमीनों पर काम भी न करो, न उन्हें किराये पर ही लो।

(६)

लोग कहेंगे "परन्तु यह उपाय तो तभी कारगर होगा, जब दुनिया भर के सभी मजूर यह निश्चय कर लें कि फौज में नौकरी नहीं की जाय और न जमींदारों की जमीन पर काम किया जाय और न उस जमीन को लगान पर लिया जाय। और सारे संसार के श्रमजीवी एकदम काम करना बन्द कर दें। परन्तु ऐसी बात न तो है ही और न हो सकती है। अगर थोड़े से श्रमजीवी इन सब बातों पर राजी भी हो जाय, तो बाकी श्रमजीवी, जो प्राय दूसरे देशों के श्रमजीवी होंगे, इसकी आवश्यकता को न समझेंगे। और इसलिए परिस्थिति में कोई विशेष फर्क न होगा— जमीनें तो ज्यों-की-त्यों जमींदारों के अधिकार में बनी रहेंगी। फल यह होगा कि इन हड़ताल करने वाले मजूरों को दूसरों का

भला होना तो ठीक वे उलटी अपनी ही हानि कर लेंगे।"

यह एतराज बिलकुल सही होता, अगर मैं उन्हें हड़ताल कर दे (काम करने से इन्कार कर देने) को कहता होता, लेकिन मैं हड़ता की बात नहीं करता। मैं तो यह कहता हू कि श्रमजीवियों को चाहि कि वे सेनाओं में भरती होना बन्द कर दें, जो हमारे भाइयों पर आ मण करके उन्हें अपने स्वत्वों से वञ्चित कर देती है। मैं तो यह कह हू कि वे जमींदारों की जमीन पर काम करने या उसे लगान पर ले से इन्कार कर दें। क्यों? इसलिए नहीं कि इससे श्रमजीवियों केवल हानि है और उससे उनकी पराधीनता बढ़ जाती है, बल्कि इसलिए कि इन कामों में किसी प्रकार का कोई भाग लेना स्वयं एक बहुत बड़ा पाप है। प्रत्येक मनुष्य को इस पाप से उसी प्रका बचना चाहिए, जिस प्रकार हत्या करने, चोरी करने, डाका डाल इत्यादि कामों के करने से अथवा उनमें किसी भी प्रकार का कोई हिस्स लेने से बचना उसका परम धर्म है। यदि श्रमजीवी लोग इस बात प जरा भी विचार करेंगे कि कुछ भी परिश्रम न करनेवाले इन भद्र पुरुष के जमीन पर अधिकार बनाये रखने में सहायता करना कहां तक उचित है, तो वे निःसन्देह देखेंगे कि जमीन पर किसी व्यक्ति अथवा समाज विशेष का एकान्त अधिकार होना बिलकुल न्याय विरुद्ध बात है और इसलिए उस प्रथा को बनाये रखना एक महापाप है। इस पाप के कारण सहस्रों मनुष्य, वृद्ध पुरुष एवं छोटे छोटे बच्चों को दुःख और दारिद्र्य में जीवन बिताना पड़ता है। इसी पाप के कारण उन्हें भर-पेट भोजन नहीं मिलता यही नहीं बल्कि आवश्यकता तथा अपनी शक्ति से बाहर परिश्रम करना पड़ता है। इस घृणित जमींदारी प्रथा के कारण हजारों स्त्री पुरुषों को फाकेकशी और अति परिश्रम के कारण अकाल ही काल के गाल में पहुंचना पड़ता है।

यदि जमींदारों-द्वारा जमीन को अपने एकान्त अधिकार में बनाये रखने का यही परिणाम हो—और यह बात अब प्रायः सभी पर विदित

हो गई है कि इसका परिणाम ऐसा ही होता है—तो यह बात भी स्पष्ट है कि जमींदारों के जमीन पर अधिकार रखने और इस अधिकार का समर्थन करने के काम में किसी प्रकार भी कोई हिस्सा लेना एक बहुत बड़ा पाप है, जिससे प्रत्येक मनुष्य को दूर रहना चाहिए। करोड़ों मनुष्य सूदखोरी, आवारागर्दी, निर्बलों को सताने, उनपर आक्रमण करने, चोरी करने, हत्या करने तथा ऐसे ही दूसरे कामों को स्वभावतः पाप-कर्म समझते हैं और ऐसे कामों से सदैव दूर रहते हैं। ठीक ऐसा ही आचरण श्रमजीवियों को भौमिक संपत्ति के सम्बन्ध में करना चाहिए। वे स्वयं ऐसी सम्पत्ति के अनौचित्य को देखते हैं और उसे बहुत ही घृणित एवं निर्दयतापूर्ण काम समझते हैं। तो फिर क्या कारण है, जो वे उसमें केवल हिस्सा ही नहीं लेते बल्कि उसका समर्थन भी करते हैं?

(७)

इस प्रकार मैं जिस बात की सलाह देता हूं, वह हड़ताल नहीं है। मैं तो भौमिक संपत्ति की रक्षा और समर्थन को एक अपराध और महा पाप बता रहा हूं और स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि हम सब ऐसे पाप से अथवा ऐसा करने से अपना हाथ खींच लें—उसमें सहायक होने से बाज आवें। यह सच है कि इस प्रकार किसी काम को बुरा या पाप समझ कर उसे छोड़ने के लिए सब लोग जल्दी तैयार नहीं होते, जैसा कि हड़तालों में हुआ करता है। और इस कारण ऐसे कामों में उस सफलता की भी आशा नहीं की जा सकती है। परन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर जितनी स्थायी और दृढ़ एकता स्थापित हो जाती है, वह हड़ताल से कदापि नहीं हो सकती। हड़ताल के समय होनेवाली कृत्रिम एकता हड़ताल का उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर फौरन नष्ट हो जाती है। पर जो एकता किसी कार्य-क्रम को स्वीकार कर लेने पर अथवा एक ही प्रकार का विश्वास रखने के कारण होती है, वह दिन पर दिन और भी अधिक बढ़ती जाती है और अधिकाधिक लोगों को अपनी ओर खींचती जाती है और जब श्रमजीवी हड़ताल की भावना से नहीं, बल्कि भौमिक

संपत्ति को पाप-मूलक समझ, उसमें किसी प्रकार कोई हिस्सा लेने अपना हाथ खींच लेंगे, तो उनमें भी वही चिरस्थायी एकता होगी। बहुत सम्भव है, जमीन की खानगी मालिकी की रक्षा समझने में किस प्रकार का हिस्सा लेना अनुचित है, इस बात को समझने हुए भी उन से बहुत थोड़े आदमी जमींदारों की जमीन पर काम करना बन्द कर और उसे लगान पर भी न लें। परन्तु तो भी, चूं कि वे ऐसा किसी स्थानीय और अस्थायी इकरारनामे के कारण नहीं, बल्कि यह समझकर करेंगे कि कौन-सी बात उचित है और कौन-सी अनुचित है और किसी उचित बात को तो हमेशा सभी मनुष्य मानने को तैयार रहते हैं और भूमि पर वैयक्तिक अधिकार बनाये रखना तो सरासर एक अनुचित बात है ही, अतः ज्यों-ज्यों यह बात लोगों पर प्रकट होती जायगी त्यों-त्यों ऐसे लोगों की संख्या आप-से आप बढ़ती जायगी।

पहले से ही ठीक ठीक यह बतला देना असम्भव है कि श्रमजीवियों के यह समझ जाने पर कि भौमिक संपत्ति के तन्त्र की रक्षा करने में किसी प्रकार कोई हिस्सा लेना बहुत बड़ा पाप है, समाज में क्या-क्या परिवर्तन हो जायगे। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे परिवर्तनों का होना अनिवार्य है। इस ज्ञान का महत्व जितना भी अधिक हो उतना ही अधिक उसका प्रचार भी होगा। सम्भव है, ऐसे परिवर्तनों का परिणाम यह हो कि कुछ श्रमजीवी जमींदारों के लिए काम करना या उनकी जमीन को किराये (लगान) पर लेना बन्द कर दें और इस प्रकार जब जमींदारों को जमीन पर अपना अधिकार बनाये रखने में कोई लाभ न दिखलाई पड़ेगा तो वे या तो श्रमजीवियों के साथ ऐसा समझौता कर लेंगे, जो उन श्रमजीवियों के लिए हितकर होगा या जमीन को बिलकुल ही छोड़ देंगे। यह भी सम्भव है कि जो श्रमजीवी सेना में भरती हो गये हैं वे यह समझ जाने पर कि जमीन पर वैयक्तिक अधिकार होना बुरा है, अपने ग्रामीण श्रमजीवी भाइयों पर आक्रमण करने और उन्हें पद दलित करने से इन्कार कर

है, जिसका परिणाम शायद यह हो कि सरकार जमींदारों की जमीन की रक्षा करने में असमर्थ हो जाय और इस तरह जमीन जमींदारों के हाथ से निकलकर जनता के हाथों में चली जाय और उसके ऊपर किसी व्यक्ति अथवा समाज विशेष का अधिकार न रह जाय।

अन्त में, यह भी सम्भव है कि जिस समय सरकार को यह विश्वास हो जायगा कि जमीन पर से वैयक्तिक अधिकार का उठ जाना अनिवार्य और स्पष्ट हो गया है, उस समय वह श्रमजीवियों की इस विनय को सरकारी आज्ञा का रूप देकर कानून द्वारा भूमि पर से वैयक्तिक अधिकार की बात उठा दे।

यह बता देना बहुत मुश्किल है कि श्रमजीवियों को इस बात का ज्ञान हो जाने पर कि जमीन पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार होना एवं उसमें सहायक होना भी एक अनुचित बात है, जमीन पर अधिकार रखने के सम्बन्ध में क्या-क्या परिवर्तन होना जरूरी और सम्भव है। सम्भव है बहुत से परिवर्तन हों। पर एक बात बिलकुल निश्चय है—वह यह कि कोई मनुष्य इस सबंध में सच्चे दिल से और ईश्वर पर विश्वास करके कुछ काम करेगा, तो निश्चय ही उसके प्रयत्न व्यर्थ न होंगे।

जिस समय लोगों के सामने कोई ऐसा काम करने की बात आ जाती है, जिसका बहु-संख्यक जन-समाज ने समर्थन नहीं किया है, तो वे प्रायः यह कहने लगते हैं, "इन तमाम लोगों के मुकाबले में अकेला क्या कर सकता हूँ?" ऐसे लोग यह समझते हैं कि किसी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उस सभी अथवा कम-से-कम ज्यादातर लोग करने लग जायें, पर यह धारणा सरासर भ्रमपूर्ण है। सच तो यह है कि बहुत से आदमियों की जरूरत तो एक बुरे काम के लिए भले ही हो, एक अच्छे काम के लिए तो एक ही आदमी काफी है; क्योंकि जो मनुष्य अच्छा काम करता है, ईश्वर हमेशा उसके साथ रहता है। और जिस मनुष्य के साथ ईश्वर है, उसके साथ, सभी

ऐसा काम न करें जो उनके दूसरे भाइयों के लिए हानिकारक हो।

यदि इस समय श्रमजीवी लोग जमींदारों के यहां उनका काम करते हैं और उनकी जमीन किराये (लगान) पर लेते हैं, तो इन सब का कारण केवल यही है कि अभी उन सब लोगों को इस बात का पूरा पूरा ज्ञान नहीं है कि अमुक कर्म पापकर्म है। और न सभी लोग यह समझते हो हैं कि इससे वे अपना तथा अपने भाइयों का बहुत बड़ा अनिष्ट करते हैं। लोग जितना ही अधिक भौमिक सम्पत्ति में भाग लेने के महत्व को समझेंगे और जितनी ही अच्छी तरह वे इस समझ जायगे, उतनी ही शीघ्रता और सुगमता एव दृढ़ता के साथ परिश्रम करनेवालों के ऊपर से परिश्रम न करने वालों का दबाव उठ जायगा।

(६)

श्रमजीवियों की दशा सुधारने का एकमात्र उपाय यह है कि जमीन को जमींदारों के अनुचित अधिकार से मुक्त कर दिया जाय और यह ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल है। जमींदारों की जमीन पर काम न करने और उसके किराये (लगान) पर न लेने से भी जमीन की मुक्ति हो सकती है। इस तरह श्रमजीवी सभा में सम्मिलित होने से इन्कार भी कर सकते हैं जब कि वह श्रमजीवियों के विरुद्ध काम में लाई जा रही हो। परन्तु तुम श्रमजीवियों के लिए इतना ही जान लेना काफी न होगा कि तुम्हारे हित के लिए जमीन का जमींदारों के पंजे से निकल जाना आवश्यक है। केवल जमींदारों की जमीन पर काम करना और उसे किराये (लगान) पर लेना बन्द कर देने से भी काम न चलेगा। तुम्हें तो यह भी जान लेना जरूरी है कि जिस समय जमीन जमींदारों के पंजों से निकल जायगी उस समय तुम उसका प्रबन्ध किस प्रकार करोगे? आपस में श्रमजीवियों में उसे कैसे बांटोगे?

हममें से बहुतों का यह विचार है कि जो लोग कोई काम नहीं करते, उनके हाथ से पहले जमीन निकाल लेने भर की देर है कि इसके बाद सारी बातें ठीक हो जायगी। पर बात ऐसी नहीं है। यह कहना तो

बहुत ही आसान है कि जमीन आलसी और काम न करने वालों के हाथ से निकाल कर काम करने वालों के हाथ में दे दी जाय। परन्तु यह सारी कार्रवाई किस प्रकार की जाय कि न्याय का उल्लंघन न हो और धनिकों को फिर से इस बात का अवसर भी न मिले कि वे बड़े बड़े इलाके खरीद कर उनके मालिक बन जाय और इस प्रकार काम करने वालों (श्रमोपजीवियों) को फिर अपने दास बना लें। तुममें से बहुत लोग अभी समझते हैं, कि प्रत्येक श्रमजीवी अथवा समाज का अपनी इच्छानुसार जहा कहीं वे चाहें, एक स्थान से दूसरे स्थान पर बस जाने और जमीन जोतने बोने का अधिकार होना चाहिए, जैसा कि पुराने जमाने में होता था और अब भी कहीं कहीं होता है। पर यह वहीं सम्भव है जहा पर आबादी कम हो, और जमीन इफरात और एक ही किस्म की हो। पर जहाँ पर आबादी इतनी ज्यादा है कि उसका उस जमीन से भरण-पोषण भी ठीक तौर से नहीं हो सकता और जहा की जमीन कई किस्म की है, वहाँ यह जरूरी है कि लोगों में उसे दूसरी तरह बाटने के उपायों की खोज की जाय। यदि इसका बटवारा जन-संख्या के अनुसार किया जायगा तो जमीन उन लोगों के भी हिस्से में चली जायगी, जो यह भी नहीं जानते कि वह किस प्रकार जोती-बोई जाती है और फिर वे काम न करने वाले लोग उसे या तो दूसरों को किराये पर उठा देंगे या धनवानों के हाथ उसे बेच देंगे। नतीजा क्या होगा? फिर ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ जायगी जिनके पास हजारों बीघा जमीन है,पर जो उस पर कुछ भी काम नहीं करते। यह भी प्रश्न उठ सकता है कि काम न करने वाले लोगों को जमीन बेचने और उसे किराये पर उठा देने से क्यों न रोक दिया जाय? परन्तु ऐसी दशा में वह जमीन बेकार पड़ी रह जायगी, जो ऐसे लोगों की सम्पत्ति है जो या तो काम करना नहीं चाहते या काम कर ही नहीं सकते। इसके अतिरिक्त, यदि जमीन का बटवारा जन-संख्या के हिसाब से किया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि एक ही किस्म की जमीन सब

के हिस्से में कैसे डाली जाय ? कुछ जमीन तो खूब उपजाऊ और कुछ ककरीली, पथरीली, ऊसर, रेतीली और दल-दलदार है। कस्बों में ऐसी उपजाऊ जमीन है जिसमें फी एकड़ खूब आमदनी होती है पर कुछ दूसरे स्थानों में ऐसी जमीन मिलेगी जिससे कोई भी आमदनी नहीं होती। तो फिर जमीन का विभाजन (बटवारा) किस प्रकार किया जाय कि वह काम न करने वालों के हिस्से में न पड़े और किसी का हिस्सा भी न मारा जाय और किसी प्रकार का विरोध, लड़ाई झगड़ा और फिसाद भी पैदा न हो ? बहुत दिनों से लोग इन बातों पर विचार कर रहे हैं और इन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न कर रहे हैं, और इस सम्बन्ध में बहुत-सी ऐसी युक्तियां ढूंढकर निकाली गई हैं कि जिनसे श्रमजीवियों में जमीन का समुचित बटवारा किया जा सके।

समाज-संगठन सम्बन्धी कुछ योजनायें हैं जिन्हें साम्यवादी समझा जाता है। इन योजनाओं में जमीन सार्वजनिक सम्पत्ति मानी जाती है, और सभी लोग सम्मिलित रूप से उसे जोतते-बोते हैं। पर इनके अतिरिक्त मुझे नीचे लिखी कुछ योजनाओं का पता है—

सबसे पहली योजना जो मैं बताऊंगा विलियम ओगिलवी नामक एक स्काटलैण्ड निवासी सज्जन की बनाई हुई है। ओगिलवी अठारहवीं शताब्दी के पुरुष बतलाये जाते हैं। महाशय ओगिलवी का कथन है कि चूंकि प्रत्येक मनुष्य जमीन पर पैदा होता है इसलिए उस जमीन पर रहने और उसकी पैदावार से अपना भरण-पोषण करने का उसे पूर्ण अधिकार है। इसलिए थोड़े से मनुष्य इस जमीन को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाकर उसके इस अधिकार में किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकते। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को उतनी जमीन अपने कब्जे में रखने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए जो उसके हिस्से की है। अगर कोई अपने हिस्से से अधिक जमीन अपने अधिकार में ले लेता है और उन हिस्सों से फायदा उठाता है, जिनके सम्बन्ध में वे लोग जो वास्तव में उसके मालिक हैं, अपना कोई दावा

पेश नहीं कर रहे हैं, तो ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह इसके लिए सरकार का विशेष कर दिया करे।

इसके कुछ वर्ष बाद ब्रिटेन निवासी एक दूसरे सज्जन ने जमीन सम्बन्धी इस समस्या को इस प्रकार हल किया "सारी जमीन जिलों की जन-संख्या में सामूहिक रीति से बाट दी जाय। और जिस प्रकार जिले की जनता चाहेगी उसका उपभोग कर सकती है" इस प्रकार अलग अलग व्यक्तियों द्वारा भूमि को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की प्रथा का बिलकुल अन्त ही कर दिया गया था।

महाशय स्पेन्स ने भी इसी सम्बन्ध में अपने विचार एक प्रसंग पर सन् १७८८ में प्रकट किये थे। प्रसंग यों है।

"एक दिन मैं अकेला जंगल में अखरोट बीन रहा था कि एकाएक उस जंगल के अफसर (फोरेस्टर) ने झाड़ी के बीच से मेरी ओर झांककर मुझसे पूछा, "तुम यहां क्या कर रहे हो?" मैंने उत्तर दिया, "अखरोट बीन रहा हूँ।"

उसने कहा,—"क्या अखरोट बीन रहे हो? यह कहने का साहस तुम्हें कैसे हुआ?"

मैंने कहा,—"बताओ, क्यों न हो? अगर कोई गिलहरी या बन्दर ऐसा करता होता तो क्या आप उससे भी ऐसा ही प्रश्न करते? क्या आप मुझे इन जानवरों से भी कम समझते हैं, या मेरा अधिकार इनसे भी कम है?" मैंने भी जरा कड़ककर पूछा "आखिर तुम हाउ कौन हो जो मेरे काम में इस तरह बाधा पहुँचा रहे हो?"

उसने कहा—"मैं यह सब तुम्हें उस समय बता दूंगा, जब मैं तुम्हें यहां अनधिकार प्रवेश करने के अपराध में गिरफ्तार कर लूंगा।"

मैंने उत्तर दिया—"बेशक, लेकिन जरा यह तो बताइए कि यहां, जहां पर कभी किसी मनुष्य ने न पेड़ लगाये और न जमीन जोती-बोई, मेरा अपना अनधिकार प्रवेश कैसे कहा जा सकता है? ये अखरोट तो प्रकृति देवी ने अपनी इच्छा से लोगों की भेंट किये हैं, और इनका उप

भोग करने का अधिकार तो मनुष्य और पशु समान रखते हैं। वे तो सर्व साधारण की सम्पत्ति हैं।"

उसने कहा—"मैं तुमसे यह कहता हूँ कि यह जंगल सर्व-साधारण की सम्पत्ति नहीं है। इसके मालिक पोर्टलैंड के ड्यूक हैं।"

मैंने कहा—"बड़ी अच्छी बात है। ड्यूक साहब जुग जुग जीवें। पर प्रकृति उन्हें भी उतना ही जानती है जितनी कि मुझे। और प्रकृति देवी के दरबार में तो यह नियम है कि पहले आओ और पहले पाओ। इसलिए अगर साहब कुछ अखरोट लेना चाहें तो शीघ्रता करें।"

अन्त में महाशय स्पेन्स ने गरजकर कहा कि, अगर मुझे ऐसे देश की रक्षा करने का हुक्म दिया जाय कि जिसमें एक अखरोट भी नहीं तोड़ सकता, तो मैं यह कहकर अपने हथियार फेंक दूंगा कि, "इसके लिए पोर्टलैंड के ड्यूक जैसे व्यक्तियों को ही लड़ने दो, जो देश के मालिक होने का दावा करते हैं।"

इसी प्रकार 'विवेक-युग' (The Age of Reason) और 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of Man) नामक ग्रन्थों के प्रसिद्ध लेखक टामस पेन ने भी इस समस्या को हल किया है। उनके हल की विशेषता यह थी कि भूमि को तो उन्होंने सार्वजनिक सम्पत्ति माना और भिन्न भिन्न जमींदारों द्वारा भूमि पर स्थापित किये अधिकार को नष्ट करने के लिए उत्तराधिकार की प्रथा को मिटा देने का प्रस्ताव किया था। फलतः जो जमीन अभी तक किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति रही है उसके मालिक के मर जाने पर सार्वजनिक सम्पत्ति हो जाय।

टामस पेन के बाद, सातवी शताब्दी में पैट्रिक एडवर्ड डव ने इस विषय में बहुत-कुछ विचार किया और लिखा है। मि० डव का सिद्धांत यह था कि जमीन का मूल्य दो प्रकार से बढ़ता है—स्वयं जमीन की उर्वरा शक्ति से और दूसरे उस पर किये गए परिश्रम से। जमीन का जो कुछ भी मूल्य उस पर किये गए परिश्रम के कारण बढ़ जाता है, वह किसी मनुष्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति हो सकती है। पर अपनी उर्वरा-

शक्ति के कारण उसका जो कुछ भी मूल्य होता है, वह तो समस्त राष्ट्र की सम्पत्ति है। जैसा कि हो रहा है वह कभी किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए।

जापान की लैंड रिक्लेमिङ्ग सोसाइटी ने भी ऐसी ही एक योजना तैयार की है। योजना संक्षेप में यों है—प्रत्येक को अपने हिस्से की जमीन पर इस शर्त पर काबिज रहने का अधिकार है कि वह उसके लिए एक निश्चित कर (टैक्स) दिया करे और इसलिए जिस व्यक्ति के पास अपने हिस्से से ज्यादा ज़मीन है, उससे वह अपने हिस्से की जमीन माग सकता है। परन्तु मेरी राय में तो सबसे अधिक न्याय्य और व्यवहार्य्य योजना हेनरी जार्ज की है जो 'सिंगल टैक्स सिस्टम' के नाम से प्रसिद्ध है।

हेनरी जार्ज की तैयार की गई योजना मुझे तो सबसे अधिक न्याय युक्त लाभ प्रद और सबसे अधिक व्यवहार्य दिखाई देती है। संक्षेप में उसका बयान इस प्रकार किया जा सकता है। मान लीजिए कि किसी स्थान में सारी जमीन के मालिक दो जमींदार हैं। इनमें से एक बहुत धनवान और दूर देश में रहने वाला है, और दूसरा इतना धनवान तो नहीं, पर अपनी जमीन आप जोतता-बोता है—और लगभग सौ किसान हैं जिनके पास थोड़ी-थोड़ी जमीन है। इसके अतिरिक्त, उसी स्थान में एक बहुत से मजदूर पेशा आदमी शिल्पकार, व्यापारी लोग (सौदागर) और सरकारी कर्मचारी रहते हैं, जिनके पास कोई जमीन नहीं है। मान लीजिए, इस स्थान के सब निवासी इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि कुल जमीन सार्वजनिक सम्पत्ति है। तब वे इस विश्वास के अनुसार उस जमीन का बटवारा कैसे करें?

सभी ऐसे लोगों से, जिनके पास जमीन है, उस कुल जमीन का ले लेना और प्रत्येक मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार जमीन का उपभोग करने की इजाजत दे देना तो असम्भव है। क्योंकि एक ही किस्म की जमीन के लिए बहुत से उम्मीदवार खड़े हो जायंगे और उनमें ऐसे

झगड़े पैदा हो जायगे जिनका कभी अन्त ही न होगा। सबके लिए सम्मिलित होकर जमीन का जोतना बोना, निराना और फसल काटना और तैयार करना और बाद में उसका आपस में बाँट लेना भी व्यवहार्य न होगा, क्योंकि कुछ लोगों के पास तो हल, बैल और गाड़ियां हैं, दूसरों के पास नहीं हैं। इसके अलावा, कुछ लोगों को जमीन जोतने बोने का न तो काफी अनुभव है और न खेती का आवश्यक ज्ञान। जन-सख्या के अनुसार एक प्रकार की जमीन को बराबर बराबर हिस्सों में बांटना भी बहुत कठिन होगा। यदि प्रत्येक किस्म की जमीन बहुत से छोटे छोटे हिस्सों में बांट भी जाय, जिससे प्रत्येक मनुष्य को जोतने बोने और जगल आदि के लिए उत्तम, मध्यम, निकृष्ट सभी प्रकार की जमीन का अलग अलग हिस्सा मिल जाय, तो आवश्यकता से अधिक बहुत से छोटे छोटे हिस्से बढ़ जायगे।

इसके अतिरिक्त, इस प्रकार जमीन का बांटना और भी अधिक भयकर इसलिए होगा कि जो लोग काम करना नहीं चाहते या जो बहुत ज्यादा गरीब हैं, वे रुपया लेकर अपनी जमीन धनी जनों के हवाले कर देंगे और फिर बड़े-बड़े जमींदारों की संख्या बढ़ जायगी। इसलिए इस स्थान के निवासी यह तय करते हैं कि जमीन को उन्हीं लोगों के हाथ में छोड़ दिया जाय जिनके कब्जे में वह है, और यह तय कर लिया जाय कि इस जमीन के बदले जमीन के मालिक सार्वजनिक कोष में एक निश्चित रकम दे दिया करें जो उनके कब्जे की जमीन से उस पर कब्जा करने वाले को होती। पर यह रकम उस तादाद से नहीं तय की जाय जो कि उस जमीन पर की गई है बल्कि उस जमीन की किस्म और स्थिति से आंकी जाय और अन्त में इस स्थान के निवासी इस रकम को आपस में बराबर बांट लेने का निश्चय करते हैं।

लेकिन जिन लोगों के कब्जे में जमीन है, उनसे रुपये वसूल करना और प्रत्येक मनुष्य को बराबर बांटना एक बहुत जटिल समस्या है। इसके अतिरिक्त सभी निवासियों को पाठशाला, प्रार्थना-मन्दिर, बाग

सुधारने के इन्जन, गोशालाएं, सड़कों आदि की मरम्मत कराने इत्यादि सार्वजनिक कामों के लिए रुपया देना पड़ता है और यह रुपया सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए हमेशा काफी नहीं होता। इसलिए इस स्थान के निवासी जमींदारों से जमीन की आमदनी का रुपया इकट्ठा करने, उसे सब लोगों में बांट देने और फिर टैक्स के लिए उसे वसूल करने के बदले, यह निश्चय करते हैं कि जमीन से होने वाली सारी आमदनी वह मालगुजारी वसूल कर ले और उसे सार्वजनिक आवश्यकताओं में खर्च करे।

इस निर्णय पर पहुँचने के पश्चात् वे निवासी जमींदारों से उनके कब्जे की जमीन के हिसाब से रुपया तलब करते हैं और जिन किसानों के पास थोड़ी-थोड़ी जमीन है उनसे भी रुपया तलब करते हैं। परन्तु उन थोड़े से आदमियों से कोई भी रकम तलब नहीं की जाती जिनके पास कुछ भी जमीन नहीं है, किन्तु जमीन से होने वाली आमदनी से जो भी सामान तैयार की गई है, उनका उपयोग बिना कुछ दिये मुफ्त में करने का उन्हें इजाजत दे दी जाती है।

इसका परिणाम यह होता है कि जो जमींदार अपनी जमीन पर नहीं रहता है और उससे बहुत कम पैदा करता है, उसे इस प्रकार टैक्स दत हुए जमीन पर अपना कब्जा बनाये रखने से कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता और इसलिए वह उसे छोड़ देता है। पर यह दूसरा जमींदार जो एक अच्छा किसान है, अपनी जमीन के सिर्फ एक हिस्से का ही छोड़ता है और अपने लिए इतनी जमीन बनाये रखता है जिससे वह उतने रुपये से ज्यादा पैदा कर सके जो उससे पूरी जमीन का इस्तैमाल करने के लिए मांगा जाता है।

जिन किसानों के पास जमीन थोड़ी है, जिनके पास काम करने वाले ज्यादा और जमीन कम है तथा जिनके पास जमीन बिलकुल नहीं है पर जो अपनी जीविका का उपार्जन जमीन के ऊपर परिश्रम करके करना चाहते हैं, वे जमींदारों द्वारा छोड़ी गई इस जमीन को अपने

कब्जे में ले लेते हैं। इस तरह उस स्थान के सभी निवासियों के लिए जमीन पर रहना और उससे अपनी जीविका उपार्जन करना सम्भव हो जाता है, और कुल जमीन उन लोगों के हाथ में चली जाती है या उनके कब्जे में बनी रहती है, जो उस पर काम करना चाहते हैं और जिनमें अधिकाधिक पैदा करने का सामर्थ्य है। साथ ही उस स्थान की सार्वजनिक संस्थाओं में भी उन्नति होती जाती है, क्योंकि इस योजना द्वारा सार्वजनिक कामों के लिए पहले की अपेक्षा अधिक रुपया मिलता है। और इन सबके अलावा जमीन के सम्बन्ध में यह सारा परिवर्तन बिना किसी लड़ाई झगड़े या रक्त पात के ही हो जायगा, क्योंकि जिन लोगों को खेती करने से कोई लाभ नहीं है वे अपनी इच्छा से ही जमीन को छोड़ देंगे। यही हेनरी जार्ज की योजना (स्कीम) है, जो भिन्न भिन्न राष्ट्रों, तथा सारे मानव-समाज के लिए भी, अनुकूल सिद्ध हुई है।

'अब मैं संक्षेप में अपनी बातों को फिर दुहरा देना चाहता हूँ।

श्रम-जीवियो, मैं तुम्हें पहली सलाह यह देता हूं कि तुम पहले यह समझ लो कि तुम्हें आवश्यकता किस बात की है। व्यर्थ में उस वस्तु के प्राप्त करने का कष्ट न उठाओ जिसकी तुम्हें आवश्यकता नहीं है। तुम्हें आवश्यकता सिर्फ जमीन की है— जिस पर तुम रह सको और जिससे तुम अपना भरण पोषण कर सको।

दूसरे, मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि इस बात पर तुम लोग अच्छी तरह विचार कर लो कि किन उपायों से तुम जमीन को, जिसकी तुम्हें आवश्यकता है, प्राप्त कर सकते हो। इसे तुम रक्त-पात करके नहीं प्राप्त कर सकते—ईश्वर तुम्हें ऐसी बेवकूफी से बचावे। अब प्रदर्शन, हड़ताल अथवा पार्लमेण्ट में अपने प्रतिनिधि भेजकर भी यह काम नहीं हो सकेगा। इसका सरल उपाय है उन कार्यों में भाग लेने से इन्कार कर देना जिन्हें तुम बुरा समझते हो, अर्थात् यह कि तुम्हें सरकारी सेना के सैनिक बनकर और रक्त-पात करके अथवा जमींदारों की

जमीन पर काम करके या उसको लगान पर लेकर जमीन को वैयक्तिक संपत्ति बनाने वाले अनौचित्य का समर्थन न करना चाहिए।

तीसरे, यह तो सोचो कि जिस समय जमीन जमींदारों के चंगुल से निकलकर स्वतंत्र सार्वजनिक संपत्ति बन जायगी उस समय तुम उसका बटवारा किस प्रकार करोगे? तुम्हें यह न समझना चाहिए कि जो जमीन जमींदार छोड़ देंगे वह तुम्हारी संपत्ति होगी। किन्तु तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि जमीन का बटवारा न्यायोचित और बिना किसी पक्षपात अथवा द्वेषभाव के सब लोगों में समान रूप से होना जरूरी है। और इसलिए यह आवश्यक है कि मौलिक संपत्ति पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न माना जाय, चाहे वह जमीन एक ही गज क्यों न हो।

सूर्य की गरमी और वायु के समान जमीन को सब मनुष्यों की सम्मिलित सम्पत्ति मानकर ही, तुम बिना किसी को हानि पहुंचाये न्याय पूर्वक किसी भी नवीन या पुरानी योजना के अनुसार, जिसे तुम सब लोग मिलकर सोचो और पसन्द करो, जमीन को सब मनुष्यों को बांट सकोगे।

चौथे, और यह खूब ध्यान से सुनने की बात है मैं तुम्हें यह सलाह दूंगा कि जिस वस्तु की तुम्हें आवश्यकता है उसके प्राप्त करने के लिए तुम्हें शासकों के साथ कोई लड़ाई झगड़ा या रक्तपात करने अथवा साम्यवादियों के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की आवश्यकता नहीं है। सबसे पहले तो तुम्हें स्वयं अपना जीवन उत्तम और सदाचारपूर्ण बनाने की जरूरत है। लोगों का जीवन इसलिए खराब हो रहा है कि वे बुरा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। यह ख्याल मनुष्य जाति को बेहद हानि पहुंचा रहा है कि उनकी दुरवस्था का कारण उनके भीतर नहीं बल्कि बाह्य समाज में है। यदि कोई मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज यह समझता है कि जिन बुराइयों का वह अनुभव कर रहा है उनका मूल बाह्य जगत् में है और फिर इसके अनुसार इन बाहरी बातों के

(४)

एक-मात्र उपाय

All things therefore whatsoever ye would that men should do unto you even so do ye also unto them—for this is the law and the Prophets —

Matt vii 12

अर्थात् जो कुछ तुम चाहते हो कि दूसरे लोगों को तुम्हारे साथ करना चाहिए, वही तुम उनके साथ भी करो क्योंकि कानून और धर्म दोनों की यही आज्ञा है।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

(१)

संसार में श्रमजीवियों—मजूरों की संख्या एक अरब से भी ऊपर है। खान पीने की सारी सामग्री, संसार की वे सारी वस्तुएं, वे सारी चीजें जिनके ऊपर लोगों की जीविका निर्भर है, और जिनसे लोग अमीर हैं—इन श्रमजीवियों के ही परिश्रम से उत्पन्न होती है। परन्तु इन सबसे वह लाभ नहीं उठा सकता जो इन चीजों को बनाता है। लाभ उठाती है सरकार और धनिक समाज। श्रमजीवी बेचारे निरन्तर दु:ख दारिद्र्य, अज्ञानान्धकार और दासता के बन्धन में ही पड़े रहते हैं और जिन लोगों के लिए वे भोजन और वस्त्र तैयार करते हैं, मकान बनाते हैं तथा अन्य सेवा कार्य करते हैं वे ही उन्हें अनादर और तिरस्कार की दृष्टि से देखते रहते हैं।

जमीन मजूर के हाथ से निकाल ली जाती है और वह उन लोगों की सम्पत्ति बना दी जाती है, जो उस पर कुछ भी काम नहीं करते, जिसके कारण जमीन से जीविका उपार्जन करने के लिए उस पर परिश्रम करने वाले मनुष्य को उस जमीन के मालिक के अधीन होकर वह सारा काम करना पड़ता है, जिसके लिए वह आज्ञा दे। यदि श्रम-जीवी मनुष्य जमीन से अपना सम्बन्ध त्यागकर, किसी की नौकरी करने लग जाता है, अथवा मिलों या कारखानों में काम करने लग जाता है, तो वह दूसरे धनीजनों का दास बन जाता है, यहां पर उसे वेतनदाता के लिए जीवन भर दस-दस, बारह बारह, चौदह-चौदह घंटे अथवा उससे भी अधिक समय तक काम करना पड़ता है। बीच में विश्राम का नाम नहीं। काम भी एक ही प्रकार का और थका देने वाला होता है, जिसका वह कभी भी अभ्यस्त नहीं रहा है—अभ्यस्त क्या हो, जिसको उसे कल्पना भी नहीं होती—बिलकुल अपरिचित। फल यह होता है कि वह सुख, शान्ति और स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है। यदि वह इस योग्य है कि जमीन पर बस जाय अथवा काम पा जाय, जिससे बिना किसी कठिनाई के वह अपनी जीविका का उपार्जन कर सके, तो भी उसकी जान नहीं बचती, बल्कि उससे तरह-तरह के टैक्स मांगे जाते हैं। उसे स्वयं भी तीन, चार अथवा पांच वर्ष तक सेना के खर्चों के लिए कर देने को वह बाध्य किया जाता है। अगर बिना कुछ रुपया खर्च किये ही मुफ्त में वह जमीन को काम में लाना चाहता है, हड़ताल आदि का प्रबन्ध करना चाहता है अथवा अपनी जगह पर दूसरे श्रमजीवियों को काम करने से रोकना चाहता है, या टैक्स देने से इन्कार करता है, तो उसकी हड्डियों की मरम्मत करने के लिए फौजें भेजी जाती हैं, जो उसे घायल कर देती हैं, मार डालती हैं अथवा पहले की भांति फिर काम करने और टैक्स देने के लिए उसे बाध्य करती हैं।

इस प्रकार समस्त संसार के श्रमजीवी, मनुष्यों का-सा नहीं बल्कि भार-वाहक पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपने जीवन भर

ऐसा काम करने के लिए बाध्य किये जाते हैं, जिसकी उन्हें नहीं, उनके पीड़कों को आवश्यकता है। इसके बदले में उन्हें इतना ही भोजन वस्त्र तथा अन्य आवश्यक चीजें मिलती हैं कि जिससे वे बिना किसी रुकावट के निरन्तर परिश्रम कर सकें। इसके विपरीत वे थोड़े से लोग जो श्रम-जीवियों के ऊपर शासन करते हैं, उन लाखों-करोड़ों मजूरों की गाढ़ी कमाई पर मौज उड़ाते हैं और आलस्य और विलासिता में जिन्दगी बरबाद करते रहते हैं। यह कैसी अनीति है।

(२)

मास्को में निकोलस द्वितीय के राज्याभिषेक के समय लोगों को आमतौर पर अच्छी अच्छी शराबें और पाव बाटे गये। लोग उस स्थान की ओर बढ़े जहां पर ये चीजें बाटी जा रही थीं। उस समय इतने जोर का रेल-पेल हुआ कि लोगों को अपने आपको संभालना मुश्किल हो गया। जो लोग आगे थे, उन्हें पीछे वालों ने इतने जोर का धक्का दिया कि वे ज़मीन पर गिर पड़े। इन लोगों के भी पीछे जो लोग खड़े थे, उन्होंने इन्हें चटनी कर डाला। चूँकि उनमें से कोई भी यह नहीं देखता था कि आगे क्या हो रहा है, इसलिए वे सभी एक दूसरे को धक्का दे-देकर गिराते और कुचलते रहे। जो ताकतवर थे, उन्होंने निर्बलों को गिराकर रौंद डाला। इसके बाद काफ़ी हवा न मिलने और भीड़ को धक्कम धुक्का से बलवानों का भी दम घुटने लगा और वे बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़े। अब जो लोग इनके पीछे खड़े थे, उन्हें पीछे से लोगों ने ऐसा धक्का दिया कि उनके भी पैर उखड़ गये थे और इस झोंके को सह न सकने के कारण वे अपनी जगह पर खड़े न रह सके और इन लोगों पर जा गिरे और उन्हें भी पीस डाला। इस प्रकार हज़ारों आदमी जिनमें वृद्ध और युवा, पुरुष और स्त्री सभी थे—व्यर्थ में मौत के शिकार हुए।

जब यह सारा तमाशा खतम हो गया, तो लोगों में यह विवाद छिड़ा कि इस सबके लिए कौन दोषी है। कुछ लोगों ने कहा, इसमें

लिस का दोष है। कुछ बोले—इसमें सारा दोष प्रबन्ध करनेवालों का और कुछ लोगों ने कहा इसमें सारा अपराध जार का है जिन्होंने सा भोज देने की मूर्खता पूर्ण युक्ति निकाली है। सभी ने अपने आपको छोड़ बाकी लोगों पर दोषारोपण किया। पर यह बात बिलकुल साफ़ है कि इसमें दोषी वही लोग कहे जाने चाहिए, जिन्होंने अपने पड़ोसियों से पहले रोटी का टुकड़ा और एक प्याला शराब पाने के लालच से, अपने साथी दूसरे लोगों का बिना कोई ख़याल किये, आगे बढ़ने की कोशिश की, और उन्हें जमीन पर गिराकर अपने पैरों तले कुचल डाला।

क्या ठीक, यही बात श्रम जीवियों के साथ भी तो नहीं हो रही है? उनकी यह बुरी दशा इसीलिए है, उन्हें सारे कष्ट इसीलिए भोगने पड़ रहे हैं और वे इसीलिए दूसरों के गुलाम बने हुए हैं कि अपने थोड़े से अधम स्वार्थ के लिए वे अपने जीवन का सत्यानाश कर रहे हैं और अपने भाइयों की भी जिन्दगी बरबाद कर रहे हैं।

श्रम-जीवी लोग प्रायः जमींदार, सरकार, कारख़ानों के मालिकों तथा सेना, सभी की शिकायत किया करते हैं। पर वे इस बात को नहीं सोचते कि जमींदार जमीन से केवल इसीलिए फायदा उठा सकते हैं, सरकारें इसीलिए कर (टैक्स) वसूल कर सकती हैं, कारख़ानों के मालिक श्रम-जीवियों से केवल इसीलिए अपने स्वार्थ का साधन करा सकते हैं और फौजें हड़तालियों का दमन करने में सिर्फ़ इसीलिए सफल होती हैं कि श्रम जीवी लोग इन जमींदारों, सरकारों, कारख़ाने के मालिकों और फौजों का केवल सहायता ही नहीं पहुँचाते बल्कि स्वयं भी उन बातों को करते हैं जिनकी कि वे शिकायत किया करते हैं। क्योंकि अगर एक जमींदार बिना जोते-बोये हजारों एकड़ जमीन से फायदा उठाने में समर्थ होता है, तो वह सिर्फ इसीलिए कि श्रमजीवी लोग उसके वश में होकर अपने थोड़े से लाभ के लिए उसका काम करते हैं, उसकी चौकीदारी करते हैं, रखवाली करते हैं और दल बनकर उसके सारे काम की देख भाल करते हैं। इसी तरह सरकार भी श्रम-जीवियों से इसीलिए

टैक्स वसूल कर सकती है कि वे स्वयं, वेतन के लालच से, जो खुद उन्हीं से वसूल हुए रुपये में से दिया जाता है, गांव और जिले के अधिकारी टैक्स-कलेक्टर, पुलिस मैन और खुफ़ी आदि के अधिकारी बनकर काम करते हैं, अर्थात् सरकार को उन तमाम बातों के करने में सहायता दिया करते हैं जिनकी वे खुद शिकायत करते हैं। श्रमजीवी लोग एक शिकायत यह भी करते हैं कि कारखाने के मालिक उनकी मजदूरी घटा देते हैं और अधिक से अधिक समय तक काम करने के लिए उन्हें मजबूर करते हैं। पर यह भी सब इसीलिए होता है कि श्रमजीवी लोग स्वयं चढ़ा-ऊपरी करके अपनी मजदूरी घटा देते हैं और कोठारी, ओवरसियर, चौकीदार और फारमैन का काम करने के लिए कारखाने के मालिकों के हाथ अपने आपको बेच देते हैं, और अपने मालिक के स्वार्थ के लिए अपने ही मजदूर भाइयों की तलाशियां लेते हैं, उन पर जुर्माने करते हैं और उन्हें तरह तरह से हैरान और परेशान करते हैं।

अन्त में श्रमजीवियों को यह भी शिकायत है कि, अगर वे ज़मीन को अपने अधिकार में लेना चाहें जिसे कि वे अपनी संपत्ति समझते हैं, या वे टैक्स देने से इन्कार कर दें अथवा हड़ताल कर दें, तो उनके मुकाबिले के लिए फौजें भेजी जाती हैं। परन्तु इन फौजों के सिपाही वे ही श्रम-जीवी लोग हैं जो अपने स्वार्थ के लिए अथवा दण्ड के भय से फौज में भर्ती हो गये हैं और जिन्होंने अपनी आत्मा तथा ईश्वर के विरुद्ध इस बात की शपथ ले ली है कि वे उन सभी लोगों का वध करने में कोई संकोच न करेंगे जिनके लिए अधिकारी उन्हें आज्ञा देंगे।

इसलिए श्रम-जीवियों की सारी मुसीबतें स्वयं उन्हीं की पैदा की हुई हैं।

उन्हें आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि वे धनी-जनों तथा सरकार की सहायता करना बन्द कर दें और फिर उनके इन सारे दुःखों का अन्त आप-से आप हो जायगा।

तो फिर क्या कारण है कि वे बराबर उन्हीं बातों को करते रहते हैं जो उनके नाश का कारण होती हैं ?

(३)

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।"

हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों को इस ईश्वरीय आज्ञा का ज्ञान हुआ था। पारस्परिक व्यवहार की यह सर्वोत्तम नीति है। बाइबिल कहता है—"प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें।" इसी बात को चीन के महान् धर्माचार्य कनफ्यूशियस ने कहा है, "दूसरों के साथ वह बात न करो जो तुम नहीं चाहते दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें।"

यह नियम बिलकुल साधारण है और हर एक आदमी की समझ में आ सकता है। वास्तव में इसके पालन से मनुष्य का सबसे अधिक कल्याण हो सकता है। इसलिए उसका ज्ञान होते ही मनुष्य को चाहिए कि वह जितनी जल्दी मुमकिन हो, उसके अनुसार आचरण करना आरम्भ कर दे तथा आगे आने वाली सन्तान को इस नियम की ओर उसके अनुसार आचरण करने की शिक्षा देने में अपनी सारी शक्ति लगा दे।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत पहले लोगों को इस नियम के अनुसार आचरण करना चाहिए था, क्योंकि इसकी शिक्षा कनफ्यूशियस और महात्मा बुद्ध तथा यहूदी उपदेशक हिलेल और ईसा मसीह ने एक ही समय में दी थी।

विशेषकर ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाई-संसार के लोगों को तो इस नियम के अनुसार अवश्य आचरण करना चाहिए, क्योंकि वे उस इंजील को अपना मुख्य धर्म-ग्रन्थ मानते हैं जिसमें स्पष्ट रूप से इसी नियम को धर्म और कानून का सार बताया गया है अर्थात् इसी में वह सारी शिक्षा है जिसकी मनुष्य को आवश्यकता है।

पर हजारों वर्ष बीतने पर भी लोग इस नियम के अनुसार आचरण

तो करते ही नहीं और बच्चों को उसकी शिक्षा देते हैं, बल्कि कई लोग तो ऐसे हैं जो इसे जानते तक नहीं और यदि जानते भी हैं तो वे इसे या तो अनावश्यक समझते हैं या अव्यवहार्य मानते हैं।

पहले तो यह बात बिलकुल विचित्र-सी जान पड़ती है, परन्तु जिस समय मनुष्य इस बात पर विचार करता है कि इस नियम का ज्ञान होने के पूर्व लोग किस प्रकार रहा करते होंगे, और वे इस प्रकार से कितने समय तक रहे होंगे, साथ ही यह नियम आधुनिक मानव-जीवन के सिद्धान्तों से कितने अंशों में भिन्न है, तो यह बात समझ में आजाती है कि इस नियम का पालन क्यों नहीं किया जा सका।

इसका कारण यह था कि लोगों को इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि सर्व साधारण के कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वही करना चाहिए जो वह चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें। (यद्यपि यह तो साफ़ बदले की नीति है) इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए दूसरे मनुष्यों के ऊपर इतनी अधिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता था, जितनी कि उससे हो सकती थी।

इसके पश्चात् उस शक्ति से बेरोक लाभ उठाने के अभिप्राय से अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्यों की अधीनता में उसे रहना पड़ता और उनकी सहायता करनी पड़ती थी। पुनः इन शक्तिशाली मनुष्यों को फिर अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्यों की अधीनता में रहना पड़ता और उनकी सहायता करनी पड़ती थी।

इस तरह ऐसे समाज में, जो पारस्परिक व्यवहार की इस सीधी नीति से (अर्थात् दूसरों के साथ वही करना जो मनुष्य चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें), बिलकुल अनभिज्ञ है, हमेशा अल्प-सख्यक मनुष्य बाकी आदमियों के ऊपर शासन किया करते हैं।

जिस समय मनुष्यों को इस नियम का ज्ञान हुआ, उस समय वे अल्प सख्यक सत्ताधारी नहीं चाहते थे कि वे स्वयं उस नियम को स्वी-

कार करें। वे या उलटा यह चाहते थे कि जिन लोगों पर वे अपना आधिपत्य जमाये हुए थे, व भी उस बात को न समझें और न उसे अपनायें।

दूसरों पर आधिपत्य रखने वाला यह थोड़े से लोगों का गिरोह इस बात को भली प्रकार जानता था और अब भी जानता है, कि उसको जो यह शक्ति प्राप्त हुई थी और इस समय भी प्राप्त है उसका कारण क्या है? यह शक्ति उसे इसीलिए प्राप्त है कि जिन लोगों पर वह शासन करता है वे आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं और हमेशा एक-दूसरे को नीचा दिखाने तथा उस अपना अधीनता में बनाये रखने का प्रयत्न किया करते हैं, और इसलिए सत्ताधारी अपने शासित लोगों से इस नियम को छिपाये रखने के लिए अपनी शक्ति भर यत्न करते रहे हैं और कर रहे हैं।

यह नियम इतना सरल और सर्व-साधारण के समझने योग्य है कि सत्ताधारी इस नियम को न तो छिपा सकते और न उस अस्वीकार ही कर सकते हैं। पर लोगों को भुलावे में डालने के लिए वे एसे सैकड़ों हजारों दूसरे नियम उनके सामने पेश कर देते हैं जिन्हें वे इस सुवर्ण-नीति से कहीं अधिक आवश्यक और उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मान्य बतलाते हैं।

इनमें से थोड़े आदमी अर्थात् धर्माधिकारी लोग सैकड़ों ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों, पूजन-पाठ की विधियों, उपासना और प्रार्थना आदि के नियमों की शिक्षा देते हैं जिनका इस उत्तम व्यवहार-नीति से जरा भी संबंध नहीं है और उन्हें ही सबसे अधिक आवश्यक ईश्वरीय नियम बतलाते हैं। वे यह भी डर बताते हैं कि इनके अनुसार आचरण करने में कहीं असावधानी होगी तो मनुष्य का इहलोक और परलोक दोनों सदैव के लिए बिगड़ जायेंगे।

कुछ लोग अर्थात् शासक-समाज के लोग धर्माधिकारियों द्वारा आविष्कृत इस शिक्षा को स्वीकार कर आगे बढ़ते हैं और इनके आधार

पर एसे राजनीतिक नियमों की रचना करते हैं जो उपयुक्त व्यवहार-नीति के सर्वथा विरोधी हैं। वे दण्ड का भय दिखलाकर सबको अपने नियमों का पालन करने की आज्ञा करते हैं।

पर कुछ लोग इनसे भी बढ़े चढ़े हैं—विद्वान् और धनी। वे न तो ईश्वर को मानते हैं और न किसी ऐसे ईश्वरीय आदेश को स्वीकार करते हैं जिसका पालन करना मनुष्य के लिए अनिवार्य हो। वे कहते हैं–विज्ञान और उसके नियमों के अतिरिक्त ससार में कुछ भी नहीं है, विद्वान् लोग इनकी खोज करते हैं और अमीर लोग उन्हें सीखते हैं। ये कहते हैं कि सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालयों व्याख्यानों, नाटकों, क्रीड़ा स्थलों, चित्र-शालाओं और सभाओं के जरिये सबको उनकी शिक्षा दी जाय। और सब लोग अपना भी जीवन उसी प्रकार आलस्यमय बनावें जैसा कि, विद्वानों और अमीरों का होता है। और तब, वे जोरों से प्रतिपादन करते हैं, कि वे तमाम बुराइयां, जो श्रम-जीवियों के दुःख-दारिद्र्य और कष्ट का कारण हो रही हैं, आपसे आप नष्ट हो जायगी।

इनमें से किसी भी श्रेणी के मनुष्य उस सुवर्ण नियम को स्वीकार नहीं करते किन्तु इसके साथ-साथ वे भांति भांति के इतने धार्मिक राजनीतिक तथा वैज्ञानिक नियम तैयार करके रख देते हैं कि उनके बीच में किसी का ध्यान उस ईश्वरीय नियम की ओर नहीं जाने पाता, जो बिलकुल सरल एवं सुगम है और जिसके पालन करने से अवश्य ही अधिकांश जन-समाज का दुःख, दारिद्र्य एवं कष्ट छूट सकता है।

यही कारण है जिससे सरकार तथा धनिक समाज द्वारा पीड़ित श्रम-जीवी पीढ़ी दर-पीढ़ी अपने तथा अपने भाइयों के जीवन का सत्या नाश किया करते हैं, अपनी दशा सुधारने के लिए ईश्वर प्रार्थना, पूजा करना चुप चाप शासकों की आज्ञाओं का पालन करना, सभाएं करना, एसोसियेशन कायम करना, व्यापारिक सस्थाएं खोलना, हड़ताल करना, क्रान्ति करना इत्यादि दुनिया भर के जटिल, कुटिलतापूर्ण अथवा कठिन

साधनों का आश्रय लिया करते हैं। किन्तु वे इस एक मात्र उपाय से काम नहीं लेते, उस ईश्वरीय आज्ञा का पालन नहीं करते, जो निश्चित रूप से उन्हें अपने दु:खमय जीवन से मुक्त कर सकता है।

(४)

धार्मिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सामाजिक झगड़ों की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भटकने वाले कहेंगे—"परन्तु क्या यह सम्भव है कि—"आत्मवत्सर्वभूतेषु य: पश्यति" अथवा "आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" (अर्थात्-'लोगों को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जो वे चाहते हैं दूसरे लोग उनके साथ करें।') जैसे सूत्रों में सम्पूर्ण ईश्वरीय आज्ञा और मानव धर्म का सार पूर्ण रूप से आ जाय ?"

ऐसे लोग यह समझते हैं कि ईश्वरीय आज्ञा तथा मनुष्य के धर्म का प्रतिपादन सीधी और सरल भाषा में नहीं हो सकता बल्कि विस्तारपूर्ण एवं जटिल सिद्धान्तों के रूप में उसका समझाया जाना जरूरी है।

यह बात बिलकुल सत्य है कि यह सब बहुत छोटा और सरल है, परन्तु इसका छोटापन और सरलता ही इस बात का प्रमाण है कि यह एक सच्चा, स्पष्ट, त्रिकाल टिकनेवाला और धर्म-सम्मत नियम है—ऐसा ईश्वरीय नियम है, जो मनुष्य जाति के हजारों वर्ष के अनुभव का निष्कर्ष है, यह किसी ऐसे एक मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज का बनाया हुआ नियम नहीं, जो अपने आपको धर्म (चर्च) के रक्षक शासक या वैज्ञानिक कहते हैं। राज्य के कानूनों एवं विधान की पोथियों में बहुत-सी अच्छी अच्छी बातें हो सकती हैं। उनमें कई बातों की गहरी और क्लिष्ट चर्चा की गई है। यह सब बुद्धि-युक्त और महत्त्वपूर्ण भले ही हों, पर इन बातों को केवल थोड़े से लोग ही समझ सकते हैं। किन्तु, यह नीति ऐसी है जिसे सब समझ सकते हैं और उस पर अमल भी कर सकते हैं। जाति, धर्म, विद्या, वय, ऐसी किसी बात की कैद नहीं।

धार्मिक, राजकीय अथवा वैज्ञानिक दलीलें, जो किसी एक स्थान और एक समय में सही मान ली गई हैं, दूसरे स्थान और दूसरे समय में गलत हो सकती हैं। परन्तु यह व्यवहार नीति ऐसी है, जो त्रिकाल सत्य है, जिन लोगों ने भी उसे एक बार समझ लिया है उनके लिए यह हमेशा सही बनी रहेगी।

दूसरे नियमों में और इस नियम में एक मुख्य अन्तर है। इन तमाम धार्मिक, राजनीतिक एवं वैज्ञानिक नियमोंसे लोगों को न सच्ची शान्ति मिलती है और न उनका कल्याण ही होता है। सच तो यह है कि इन नियमों की बदौलत ही लोगों में अधिकाधिक वैर भाव एवं दुःख दारिद्र्य की वृद्धि होती है।

इसके विपरीत हमारी व्यवहार-नीति से—आचार के इस सुवर्ण सूत्र से मनुष्य को सच्चा सुख, प्रेम और शान्ति प्राप्त हो सकती है। उसका लोक परलोक दोनों सुधर जाते हैं। बस, आदमी सिर्फ एक बात को मान ले और उसपर अमल करे—कभी दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार न करे, जो हमारे साथ होने पर हमें नापसन्द हो। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।" यह नीति अत्यन्त लाभप्रद एवं मनुष्य जाति का उपकार करने वाली है यदि लोग इस पर अमल करें। यह मानव-समाज के सभी पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करती है। द्वेष तथा लड़ाई झगड़े के स्थान पर प्रेम भाव तथा सेवा भाव की प्रतिष्ठा करती है। यदि मनुष्य अपने आपको ऐसे घोरातिघोर नियमों से बचा ले जो इस नीति को अपने जाल में छिपाए हुए हैं, यदि मनुष्य उसकी आवश्यकता और मानव जीवन के लिए उपयोगी नीति को समझ ले तो एक ऐसे नवीन अपूर्व विज्ञान का आविष्कार हो जाय जो सब मनुष्यों के लिए एक-सा उपकारी और समाज का सबसे अधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण विज्ञान होगा। ऐसा विज्ञान जो उस नियम के आधार पर यह शिक्षा देता है कि भिन्न भिन्न व्यक्तियों तथा व्यक्तियों और समाजों के बीच होने वाले झगड़ों का अन्त किस प्रकार

किया जा सकता है। और अगर इस अपूर्व विज्ञान का आविष्कार हो जाय, वह जड़ पकड़ जाय, उसका अध्ययन किया जाय तथा आजकल के हानिकर धार्मिक मिथ्या विश्वासों तथा प्रायः अनुपयोगी अथवा नाशक विज्ञानों की शिक्षा के स्थान पर नवयुवकों और बालकों को इसकी शिक्षा भी दी जाय, तो मनुष्यों का सारा जीवन ही बदल जाय और इसी के साथ-साथ उस कष्टमय परिस्थिति का भी परिवर्तन हो जाय जिसमें अधिकांश जन-समाज इस समय जीवन बिता रहा है।

(२)

बाइबिल में यह बतलाया गया है कि इस व्यवहार-नीति का प्रादुर्भाव होने के पूर्व परम पिता परमेश्वर ने मनुष्य को 'अपना कानून' दिया।

इस कानून में यह आज्ञा की गई थी कि "किसी का वध न कर।" यह आज्ञा भी अपने समय में उतनी महत्त्वपूर्ण और उपयोगी थी कि जैसी बाद में सूझी हुई व्यवहार-नीति। पर इस आज्ञा की भी वही दुर्दशा हुई जो इस सदाचार-सूत्र की हुई। लोगों ने प्रकट में तो इसका कोई विरोध नहीं किया, किन्तु इस सदाचार-सूत्र के समान यह भी दूसरे नियमों तथा राजाज्ञाओं के आड़ में पड़कर लुप्त हो गई, जो इस प्रेमधर्म या अहिंसा के समान ही अथवा उसकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे। अगर धर्म ग्रन्थों में केवल यही एक आज्ञा होती कि "किसी का वध न करो" तो लोगों को यह स्वीकार करना पड़ता कि इसका मानना अनिवार्य है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता और इसका स्थान कोई दूसरा कानून नहीं ले सकता। सच ही अगर लोगों ने भी इसी कानून को ईश्वर की एक-मात्र आज्ञा मान लिया होता और उस कड़ाई के साथ उसका पालन भी करते, जितना कि वे धर्म के दूसरे आडम्बरों की रक्षा के लिए काम में लाते हैं, तो भी मनुष्य का सारा जीवन एक भिन्न ही रूप धारण कर लेता, और युद्ध तथा गुलामी की जरा भी सम्भावना न रह जाती। मगर

पैसा होता तो न धनवान निर्धनों से जमीन छीन सकते न मुट्ठी भर आदमी बहुत से श्रम-जीवियों की कमाई खाजकल की तरह हड़प कर सकते, क्योंकि इन सबकी जड़ भय प्रदर्शन की नीति है। हां, यदि यही एक-मात्र ईश्वरीय नियम होता कि किसी का वध न करते तो संसार का स्वरूप आज जुदा ही होता। परन्तु दुर्भाग्य वश और आज्ञाएं भी धर्म ग्रन्थों में दी गई जिन्हें कि एक आज्ञा के समान ही महत्व दिया गया। और अन्त में इनकी संख्या इतनी बढ़ गई कि यह ईश्वरीय आज्ञा उस जाल में बिलकुल गुम गई। फल यह हुआ कि आज भी उसे उचित महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। यही बात उस व्यवहार नीति के सम्बन्ध में भी हुई।

इसलिए बुराई की जड़ यह नहीं कि लोग ईश्वरीय आज्ञा को नहीं जानते। बल्कि बुराई की असली जड़ तो वे लोग हैं, जो ईश्वरीय आज्ञा के पालन को अपने लिए हानिकर समझते हैं। ये कौन हैं— धर्माधिकारी और शासक-वर्ग के थोड़े लोग, विद्वान् वैज्ञानिक और धनिक लोग जो इस ईश्वरीय आज्ञा का विरोध नहीं कर सकते, उसे झूठ भी साबित नहीं कर सकते, उसको नष्ट भी नहीं कर सकते, पर जो मनुष्य-समाज को भुलावे में डालने के लिए दूसरी सैंकड़ों शिक्षाओं का भी आविष्कार करते हैं और इन अपनी बताई शिक्षाओं को भी ईश्वरीय आज्ञा के समान महत्त्वपूर्ण बताते हैं। इसलिए अपनी इन तमाम मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य उन तमाम धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक अन्ध विश्वासों को छोड़ दे जो जीवन के आवश्यक और अनिवार्य नियमों के रूप में उनके सामने पेश किये गए हैं, और स्वीकार कर लें उस अटल सत्य और ईश्वरीय कानून को जो केवल थोड़े से मनुष्यों को नहीं, वरन् समस्त संसार भर के मनुष्यों को अधिक-से-अधिक सुख, समृद्धि एवं शान्ति दिला सकता है।

सरकारें और धनवान लोग उनके धन और जीवन का अपहरण करना बन्द कर दें, इस अभिप्राय से श्रम-जीवियों के लिए अपनी

गन्दगी दूर कर देनी चाहिए। अपवित्रता गन्दगी से पैदा होती है और दूसरे के शरीर के ऊपर पोषण उसी समय तक होता रहता है जबतक कि वे मैल रहते हैं। इसलिए श्रम-जीवियों के लिए अपनी इस दुःखा-वस्था से मुक्त होने का केवल एक ही उपाय है—वह यह कि वे अपनी शुद्धि करें। और उन्हें अपने आपको शुद्ध करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि व धार्मिक, राजकीय तथा वैज्ञानिक मिथ्या विश्वासों से मुक्ति प्राप्त कर लें और ईश्वर तथा उसके कानून म विश्वास करें।

यही उनकी मुक्ति (आजादी) का सीधा और सच्चा मार्ग है।

वर्तमान समय में प्राय दो प्रकार के श्रम जीवी मिला करते हैं—शिक्षित और मामूली अशिक्षित आदमी। ये दोनों आधुनिक सभ्यता के विरोधी हैं और उसके प्रति रोष प्रकट करते हैं—शिक्षित श्रमजीवी न तो ईश्वर में विश्वास रखता है न उसके कानून में, वह मार्क्स, लैसले आदि (साम्यवाद के आद्य प्रणेता) पुरुषों को ही जानता है। वह बेबेल जारीन, आदि की पार्लमेंटों में होने वाले कार्यों का अनुगमन करता है, तथा जमीन के छीनने के काम करने के साधनों और उत्तराधिकार की प्रथा में जो अन्याय है उस पर लम्बे चौड़े और मनसनी फैसला दने वाले व्याख्यान झाड़ता है और अशिक्षित श्रम-जीवी, यद्यपि इन बातों से बिलकुल अनभिज्ञ है और उसको ईश्वर के त्रिमूर्ति अवतार और पाप-मोचन शक्ति आदि में विश्वास है, तथापि जमींदारों और पूंजीपतियों का तो वह उतना ही कट्टर विरोधी है और सम्पूर्ण वर्तमान सगठन को अनुचित मानता है। फिर भी आप इस श्रमजीवी को, चाहे वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, जरा इस बात का अवसर दीजिए कि वह दूसरों की अपेक्षा सस्त दाम की चीजें तैयार करके अपनी दशा सुधार सके। यद्यपि इसमें उनके सैकड़ों, हजारों और लाखों भाइयों का खून ही क्यों न हो जाय—अथवा कोई ऐसा मौका दीजिए जिससे वह बड़ी-बड़ी तनख्वाह के लालच से ऊंची-ऊंची जगहों पर पूंजीपतियों की नौकरी कर सके अथवा थोड़े से मजदूरों को नौकर रखकर स्वयं कोई व्यापार

-करना आरम्भ कर दें—तो आप देखेंगे कि हजार में प्राय नौ सौ निन्यानवें आदमी विवेक-शून्य होकर उस काम को करने लग जायेंगे और अपनी जमीन जायदाद की ऐसी रक्षा करेंगे जैसी शायद खानदानी जमींदार भी खुद न करते।

सेना में भर्ती होना अथवा सामरिक कोष के लिए मांगे जाने वाले टैक्सों को वसूल कराने में सहायता देना भी तो नैतिक दृष्टि से अनुचित है। यही नहीं बल्कि यह तो उनके तथा उनके साथियों, दासों के लिए एक-सा हानि प्रद है और इसी के कारण वे गुलाम बने हुए हैं। पर उस पर विचार करने का कोई कष्ट नहीं उठाता और सब लोग या तो खुशी खुशी सैनिक खर्चों के लिए कर (टैक्स) देते चले जाते हैं या स्वयं सेना में भर्ती हो जाते हैं और ऐसे कामों को उचित समझते रहते हैं।

क्या यह सम्भव है कि इन लोगों में से किसी भी एक नवीन समाज का निर्माण किया जा सकता है जो वर्तमान सामाजिक संगठन से बिलकुल जुदा हो?

श्रम-जीवी लोग अपनी इस दुरवस्था का सारा दोष जमींदारों, पूंजीपतियों तथा सैनिकों की अर्थ लालुपता और उनके अत्याचारों पर ही मढ़ते हैं। परन्तु प्राय सभी श्रम-जीवी जिन्हें ईश्वर तथा उसके कानून में कोई विश्वास नहीं है,स्वय भी छोटे छोटे जमींदार, पूंजीपति और अत्याचारी (सैनिक) हैं। फर्क सिर्फ यही है कि वे इतने छोटे हैं कि इन्हे बड़े-बड़े पूंजीपति, जमींदार सिपाहियों की-सी सफलता नहीं मिल सकती।

एक ग्रामीण बालक अपनी रोजी की तलाश में एक नगर में अपने एक मित्र के पास आता है जो एक अमीर सौदागर के यहां कोचवानी करता है, और उससे यह प्रार्थना करता है कि वह प्रचलित नौकरी की दर से कम पर भी उसके लिए कोई जगह तलाश कर दे। वह ग्रामीण बालक ऐसी नौकरी करने को तैयार हो जाता है, परन्तु दूसरे दिन सवेरे आने पर नौकरों के कमरे में वह एकाएक यह सुनता है कि एक बुड्ढा

आदमी अपनी नौकरी से अलग कर दिया गया है अब वह लाचार है और यह भी नहीं जानता कि किस प्रकार अपना जीविका चलावे। बालक को उस बुड्ढे की दशा देखकर बड़ा दुःख होता है और वह दूसरे के साथ ऐसा काम न करने की इच्छा से, जो कि वह चाहता है दूसरा आदमी उसके साथ न करे, अपनी नौकरी छोड़ देता है। अथवा एक किसान है, जिस पर एक बहुत बड़े कुटुम्ब के भरण पोषण का भार है वह एक अमीर और जबर्दस्ती दूसरों का धन अपहरण करने वाले जमींदार के यहां अच्छी तनख्वाह के ऊपर कारिन्दगीरी का काम करना मंजूर कर लेता है। जब वह कारिन्दा यह देखता है कि उसके कुटुम्बियों को खूब अच्छी तरह खाने-पीने को मिल जाता है, तो वह अपनी इस नौकरी के ऊपर फूल उठता है। लेकिन ज्यों ही वह अपने काम का चार्ज लेता है, त्यों ही उसे किसानों के ऊपर उन जानवरों के लिए जुर्माना करना पड़ता है जो बड़े आदमियों के खेतों में भटक कर चले जाते हैं, उन उन औरतों को पकड़ना पड़ता है जो ईंधन के वास्ते उस जमींदार के जंगल में लकड़ी बीनती हैं, और उन मजदूरों की मजदूरी घटाना और उन्हें अपनी सारी शक्ति लगाकर काम करने के लिए मजबूर करना पड़ता है कि उसकी अन्तरात्मा उसे इन बातों के करने की आज्ञा नहीं देती। वह इन कामों के करने से इन्कार कर देता है और अपने घर वालों के बुरा भला कहने पर भी अपनी नौकरी छोड़कर ऐसी जगह काम करने लग जाता है जहां पहले की अपेक्षा उसे कम आमदनी होती है। अथवा एक सिपाही अपने साथियों के सहित श्रम-जीवियों के साथ लड़ाई करने को बुलाया जाता है जो बागी हो गए हैं और उससे उन पर गोली चलाने का कहा जाता है। वह ऐसा करने से इन्कार कर देता है और इसलिए उसे उसके लिए कठिन दण्ड दिया जाता है। इन सब लोगों के ऐसा करने का कारण केवल यह है कि जो बुराई वे दूसरों के साथ करते हैं वह उन पर प्रकट हो गई है और उनका अन्तःकरण उन्हें साफ-साफ यह बतला देता है कि जो कुछ भी वे कर रहे हैं वह इश्व-

रीय कानून के सर्वथा विरुद्ध है। अर्थात् यह कि मनुष्य को दूसरों के साथ ऐसी बात नहीं करनी चाहिए जिसे वह नहीं चाहता कि दूसरे लोग उसके साथ करें। अगर कोई श्रम-जीवी, मजदूरी को गिरा करके काम करना मजूर करता है और यदि उसे दूसरे लोगों का ध्यान नहीं है तो इससे वह नुकसान कम नहीं हो जाता, जो वह अपने इस कार्य से अपने अन्य मजूर भाइयों को पहुँचाता है। हानि उस हालत में भी कम नहीं होती जब कोई श्रम जीवी मालिकों की ओर मिल जाता है और जो कुछ हानि वह अपने भाइयों को पहुँचा रहा है उसे न तो देखता है और न उसे उसका खयाल ही होता है। यही बात उस आदमी के सम्बन्ध में भी है जो सेना में भर्ती हो जाता है और आवश्यकता पड़ने पर अपने भाइयों तक को मार डालने के लिए तैयार हो जाता है। अगर सेना में भर्ती होते समय उसे यह नहीं दिखाई पड़ता कि जिस समय वह बन्दूक और संगीनों का चलाना सीख जायगा, उस समय किन लोगों को और कहां पर वह मारेगा तो भी इस बात का तो वह अवश्य ही समझ सकता है कि गोली चलाना और संगीनों से लोगों पर वार करना उसका काम होगा।

और इसलिए यदि श्रम जीवी लोग अत्याचारों और दासता से अपना छुटकारा करना चाहें तो उन्हें चाहिए कि वे अपने अन्दर वह धार्मिक भाव उत्पन्न करें जो तमाम बुरे कामों को करने से मना करता है, जो उनके भाइयों की स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ देने वाले होते हैं, यद्यपि प्रकट में इस बुराई का पता नहीं चलता। धार्मिक दृष्टि से उन्हें चाहिए कि, यदि वे,और तरह से गुजर कर सकते हैं तो पहले तो पूंजी पतियों के लिए काम करना बन्द कर दें, दूसरे जो मजदूरी की शरह इस समय जारी है उससे कम के ऊपर काम करना स्वीकार न करें तीसरे पूंजी पतियों से मिलकर और उनके स्वार्थ के लिए काम करके अपनी दशा सुधारने का व्यर्थ प्रयत्न न करें और चौथे और

मुख्यतः पुलिस में नौकरी करके अथवा चुंगी घर या फौज में काम करके अथवा अन्य किसी तरह सरकार की ओर से किये जाने वाले अत्याचारों में कोई भाग न लें।

इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से विचार करके अपने सारे कामों को करने से ही श्रम जीवी लोग अपने इस दुःखमय जीवन से छुटकारा पा सकते हैं।

यदि एक श्रम जीवी अपने स्वार्थ अथवा भय के कारण सुसंगठित हत्यारों (खूनियों) की श्रेणी में अपना नाम लिखाने को तैयार है, अर्थात् वह सैनिकों में अपना नाम लिखा लेता है और उसकी अन्तरात्मा उसके इस कार्य की कुछ भी निन्दा नहीं करती, यदि अपनी सुख-समृद्धि बढ़ाने के लिए वह जान-बूझ कर अपने भाइयों के गले पर, जो उसकी अपेक्षा अधिक निर्बल और निर्धन हैं, छुरी फेरने और उनका धन अपहरण करने के लिए तैयार हो जाता है अथवा अपनी तनख्वाह के लालच से अत्याचारियों से मिल जाता है और उनके सब कामों में उनकी सहायता करता है तो उसे किसी भी बात के सम्बन्ध में कोई शिकायत न करनी चाहिए।

चाहे जिस हैसियत में भी वह रहे, वह हर हालत में या तो दलित है या दलन करने वाला। इसके सिवाय तो वह कुछ हो भी नहीं सकता। ईश्वर तथा उसके कानून में अगर उसे विश्वास न होगा तो मनुष्य सिवाय इसके कि अपने इस अल्प जीवन में अधिक-से अधिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति कर ले, और किसी भी बात की मन में अभिलाषा नहीं रखता। इसका परिणाम दूसरे लोगों के लिए फिर चाहे कुछ भी क्यों न हो। और उस समय हर एक आदमी यह चाहने लगता है कि उसे अधिक-से अधिक सुख एवं समृद्धि की प्राप्ति हो, बिना इस बात का ख्याल किए हुए कि इससे दूसरे लोगों की हानि होती है अथवा लाभ, उस समय ऐसे लोगों का, फिर समाज का संघटन किसी

भी प्रकार का क्यों न हो, एक 'कोन'-सा बन जाता है जिसकी चोटी पर शासक-मण्डल और नीचे की ओर उनके द्वारा शासित जनों का समुदाय है।

सरकारें

भी प्रकार का क्यों न हो, एक 'कोन'-सा बन जाता है जिसकी चोटी पर शासक-मण्डल और नीचे की ओर उनके द्वारा शासित जनों का समुदाय है।

सरकारें

[१]

समाज-सुधारकों से अपील

The most fatal error that ever happened in the world was the separation of Political and Ethical Science —Shelley

अर्थात् संसार में जो सबसे बड़ी भयंकर भूल हुई है, वह राजनीति का नीति-शास्त्र से अलग कर देना है। —शैली

अपने 'श्रम जीवियों के प्रति' शीर्षक लेख में मैंने यह राय जाहिर की है कि, यदि श्रम जीवी लोग अपने आपको इन कष्टों से उबारना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि वे स्वयं इस समय जिस प्रकार का जीवन बिता रहे हैं उसे, अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए अपने पड़ोसियों से झगड़ना, छोड़ दें, और धर्म-ग्रन्थ में बतलाये नियम के अनुसार बरतें अर्थात् दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं कि दूसरे लोग उनके साथ करें।

पर जैसी कि मुझे आशा थी, भिन्न भिन्न प्रकार के विचार के लोगों ने एक स्वर से मेरे बताये मार्ग की निंदा की।

लोग कहते हैं "यह उपाय तो बिलकुल अव्यावहारिक है। अत्याचार और बल प्रयोग से पीड़ितों की मुक्ति के लिए उस समय तक प्रतीक्षा करते रहना, जब तक कि वे सब धर्मात्मा न बन जायं, वर्तमान बुराई को चुपचाप स्वीकार करना है—मनुष्य को अकर्मण्य (काहिल)

जना देना है।" क्योंकि न तो सब लोग धर्मात्मा बनेंगे और न उनकी मुक्ति की कोई सूरत ही होगी।

मैं इस सम्बन्ध में कुछ शब्द कह देना उचित समझता हूँ। मैं बता देना चाहता हूँ कि मैं इस उपाय को उतना अव्यवहार्य क्यों नहीं समझता जितना कि यह प्रतीत होता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि विधान-वेत्ताओं ने सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए जिन उपायों को बतलाया है, उन सबकी अपेक्षा इसकी ओर अधिक ध्यान रखा जाय। मैं यह बात उन लोगों से कहना चाहता हूँ जो सच्चे हृदय से, केवल शब्दों से ही नहीं वरन् कार्य रूप में भी, अपने पड़ोसियों की सेवा करने के इच्छुक हैं। इन्हीं लोगों को सम्बोधित करके मैं इस समय कुछ कहना चाहता हूँ।

(१)

सामाजिक जीवन के आदर्श, जिनके ऊपर मनुष्यों के सारे काम काज होते हैं, बदलते रहते हैं, और उन्हीं के साथ-साथ मानव जीवन की व्यवस्था-क्रम भी बदलता रहता है। एक समय वह था जब सामाजिक जीवन का आदर्श मात्रा-मात्र की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उस समय एक मनुष्य-समाज, जहाँ तक कि उससे हो सकता था, दूसरे मनुष्य-समाज को भक्षण कर जाता था। इस भक्षण शब्द का यहाँ पर यथार्थ तथा आलंकारिक दोनों अर्थों में प्रयोग किया गया है। इसके बाद वह जमाना आया जब समाज का आदर्श हो गया व्यक्ति विशेष का शक्ति-सञ्चय करना। अब लोग कभी अपने शासकों की सत्ता के विरोधी हो जाते, तो कभी अपने आप उत्साह के साथ-साथ उनकी सत्ता को कबूल कर लेते। इसके बाद, लोग जीवन के उस संगठन को अपना आदर्श मानने लगे जिसमें मनुष्य जीवन को सुव्यवस्थित और उसे समुचित रीति से संगठित करने के लिए शक्ति का आश्रय लिया जाने लगा। एक समय इस आदर्श को कार्य रूप में लाने का उद्योग विश्व-व्यापी एक-तंत्र राज्य की स्थापना करना था, इसके पश्चात् राज-सत्ता धर्म के अधीन

हुए। बड़े बड़े राजाओं को धर्माचार्यों के अधीन होना पड़ा। धर्म-सत्ता के बाद प्रतिनिधित्व के आदर्श का जन्म हुआ और तत्पश्चात् प्रजातन्त्र का। प्रजातन्त्र सब जगह एक-सा नहीं था, इसमें कहीं सर्व-साधारण को अपना मत प्रकट करने का अधिकार था भी और कहीं नहीं भी था। इस समय इस आदर्श को आर्थिक संगठन के द्वारा कार्य रूप में परिणत करने के प्रयोग हो रहे हैं। परिश्रम करने के समस्त साधन (औजार) अब किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति न रह जायगे। बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति हो जायगे।

ये आदर्श एक दूसरे से चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, जीवन में उन्हें कार्य रूप देने के लिए हमेशा शक्ति अनिवार्य मानी गई है—अर्थात् ऐसी बलवान् सत्ता की जिससे लोग तत्कालीन निश्चित कानून को मानने के लिए मजबूर किये जा सकें। इस समय भी यही बात है।

लोगों का ख्याल है कि मनुष्य जाति का सबसे बड़ा हित-साधन सत्ता द्वारा हो सकता है। कुछ मनुष्यों के हाथों में अधिकार दे दिये जाने चाहिए। (चीनियों के उपदेशानुसार ऐसे लोग सबसे अधिक धर्मात्मा होने चाहिए। यूरोप की शिक्षा के अनुसार ये प्रजा द्वारा निर्वाचित सदस्य होने चाहिए) ये लोग अधिकार पाने पर उस संघटन की स्थापना और सहायता करेंगे जो मनुष्यों की कमाई स्वतंत्रता और जीवन की समुचित रक्षा की जिम्मेदारी ले सके। सभी लोग अर्थात् वे, जो वर्तमान राज्य व्यवस्था को मानव-जीवन की आवश्यक शर्त मानते हैं और वे क्रान्तिकारी और साम्यवादी भी, जो इस वर्तमान राज्य व्यवस्था को पलट देना आवश्यक समझते हैं, इस शक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हैं। और इस शक्ति या सत्ता के मानी क्या हैं? यही कि कुछ लोगों को यह अधिकार हो, और उनके लिए यह सम्भव भी हो कि वे दूसरे लोगों को बाध्य कर सकें कि वे निर्दिष्ट कानून को सामाजिक व्यवस्था की आवश्यक शर्त मानें।

यही प्रथा प्राचीन समय से चली आई है और अब भी है। परन्तु जो लोग सत्ता की सहायता से कुछ नियमों को मानने के लिए बाध्य किये जाते थे, उन्होंने अर्थात् शासितों ने हमेशा इन नियमों को सर्वोत्कृष्ट नहीं माना और इसीलिए वे कभी-कभी सत्ताधारियों के विरुद्ध उठ खड़े होते, उन्हें गद्दी से मार उतार देते थे और पुरानी शासन व्यवस्था के स्थान में नवीन शासन-व्यवस्था की स्थापना कर देते थे, जिसमें वे अपने को अधिक सुरक्षित समझते थे। तथापि मनुष्य के हाथों में सत्ता आते ही अभिमान पैदा हो जाता था, इसलिए वे अपनी शक्ति का इतना अधिक उपयोग सर्व-साधारण के लिए नहीं करते थे जितना अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए। इसलिए नया शासन हमेशा पुराने शासन के ही समान बल्कि कभी-कभी उसकी अपेक्षा भी अधिक अन्याय-पूर्ण रहा है।

प्रचलित शासन के विरुद्ध बगावत करने वालों ने सदा विजय प्राप्ति के बाद यही किया है। दूसरी ओर, जब विजय भी तत्कालीन शासकों के ही हाथ में रहती थी तो शासक लोग भी विजय होने के कारण हमेशा अपने संरक्षण के साधनों को और भी बढ़ा लेते थे, और इस प्रकार अपने नागरिकों की स्वाधीनता के लिए और भी अधिक हानि-कारक हो जाते थे।

ऐसा ही हमेशा भूत और वर्तमान काल में होता आया है। पर सबसे १६ वीं शताब्दी में हमारे यूरोपीय संसार में जिस प्रकार से यह सब हुआ है, उससे एक विशेष ही प्रकार की शिक्षा मिलती है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रायः क्रान्तियों से विजय प्राप्त होती रही। परन्तु जिन अधिकारियों ने पुराने शासकों का स्थान ग्रहण किया—उदाहरणार्थ नेपोलियन प्रथम, चार्ल्स दशम, नेपोलियन तृतीय आदि—उन्होंने नागरिकों की स्वाधीनता को नहीं बढ़ाया। और १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में, सन् १८४८ ई० के बाद, क्रान्ति के सारे प्रयत्न सरकार की ओर से दबा दिए जाते थे, और पहले की क्रान्तियों तथा उन नई

क्रांतियों के कारण, जिनके लिए उद्योग किया गया, सरकारों ने अपने आपको अधिक सुरक्षित एवं समर्थ बना लिया, और इस विगत शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों की बदौलत तो लोगों को प्रकृति तथा एक दूसरे पर एम अधिकार प्राप्त होगये हैं कि जिनको लोग पहले जानते भी नहीं थे। इन आविष्कारों की सहायता से उन्होंने अपने अधिकारों को इस हद तक बढ़ा दिया है कि लोगों के लिए इसके विरुद्ध लड़ना असम्भव हो गया है। सरकारों ने केवल असंख्य धन ही अपने अधिकार में नहीं कर लिया है जो लोगों से एकत्र किया जाता है, उनके पास केवल सुसंगठित सैन्य-दल ही नहीं है बल्कि उन्होंने अशिक्षित जनता को प्रभावित करने, अखबार तथा धार्मिक उन्नति एवं शिक्षा के समस्त साधनों को अपने हाथ में ले लिया है। और इसका ऐसा संगठन किया गया है, और वे इतने शक्ति संपन्न हो गये हैं कि सन् १८४८ ई० के बाद से यूरोप में क्रान्ति करने का ऐसा कोई भी प्रयत्न नहीं हुआ है जिसमें सफलता प्राप्त हुई हो।*

(२)

ये वैज्ञानिक आविष्कार एक बिलकुल नई और हमारे समय के लोगों के लिए अद्भुत चीज़ हैं। तैमूर और चंगेज़ खां आदि महान् विजेता चाहे जितने ही शक्तिशाली क्यों न रहे हों, वे अपने राज्य की सीमा प्रान्तों में होने वाले बलवों को दबा नहीं सके। और अपनी प्रजा की शिक्षा, वैज्ञानिक तथा नैतिक और धार्मिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली मानसिक प्रवृत्तियों का नेतृत्व और संचालन कभी अपने हाथों में नहीं ले सके। जब कि इस समय खुफिया पुलिस, गुप्तचरों का प्रबंध, प्रेसों का नियंत्रण, रेलवे, तार, टेलीफोन, फोटोग्राफी, जेल, किला बन्दी, प्रचुर धन धान्य एवं सेना आदि सभी साधन वर्तमान सरकारों के हाथों में रहते हैं।

---

*रूस की वह महान् मोलशविक राज्य क्रांति तो टॉल्स्टाय की मृत्यु के सात वर्ष बाद हुई। सं०

इन सबका संगठन ऐसे ढंग से किया गया है कि अयोग्य से अयोग्य और मूर्ख से भी मूर्ख शासक (आत्म-रक्षा के भावों से प्रेरित होकर) भयंकर-से भयंकर क्रान्ति की तैयारी को रोक सकते हैं, और हमेशा बिना किसी विशेष उद्योग के खुली बगावत के उन निर्बल प्रयत्नों को दबा सकते हैं जो समय-समय पर बिखुरे हुए क्रांतिकारियों की ओर से किये जाते हैं। इन लोगों के ऐसे प्रयत्नों से सरकारों की शक्ति और भी बढ़ जाती है। इस समय सरकारों के ऊपर विजय प्राप्त करने का केवल एक उपाय है। और वह उपाय यह है कि सैनिक लोग, जो प्रजा में के ही आदमी हैं, यह समझ लें कि सरकारें लोगों के साथ कितना अन्याय और निर्दयतापूर्ण व्यवहार करती हैं और प्रजा का कितना अधिक अनहित करती हैं, तथा उनकी सहायता करना बन्द कर दें। परन्तु इस सम्बन्ध में भी सरकारों ने यह जानकर कि उनकी सारी शक्ति सेना में ही है, उसके संचालन और शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध कर लिया है कि किसी भी प्रकार का आन्दोलन और प्रचार करने से फौजें सरकार के हाथ से नहीं निकल सकतीं। कोई भी मनुष्य, जो सेना में नौकर है और जिसे जादू का जैसा असर रखने वाली सैनिक शिक्षा, जो सैनिक व्यवस्था (discipline) के नाम से प्रसिद्ध है, प्राप्त हुई है, सेना रहत हुए, फिर उसका राजनीतिक विश्वास चाहे कुछ भी क्यों न हो, अपने सेना नायक की आज्ञा नहीं टाल सकता। बीस-बीस वर्ष की अवस्था के किशोर सेना में भर्ती कर लिये जाते हैं और उन्हें मिथ्या धार्मिक शिक्षा दी जाती है, तदुपरान्त उनमें मूर्खतापूर्ण देश भक्ति के भाव उनमें भरे जाते हैं। वे सैनिक सेवा से इन्कार नहीं कर सकते। जिस प्रकार वे लड़के, जो स्कूलों में भेजे जाते हैं, अपने गुरु की आज्ञा का पालन करने से इन्कार नहीं कर सकते। सेना में भर्ती हो जाने पर ये नवयुवक, फिर उनका राजनीतिक विश्वास कुछ भी क्यों न हो, कई शताब्दियों के अभ्यास से प्राप्त इस कौशलपूर्ण सैनिक शिक्षा की बदौलत एक ही साल के भीतर अधिकारियों के मुँह



विपरीत ये सदैव मानव-समाज की सामाजिक दुर्दशा का कारण रहे हैं और अब भी हैं। इसलिए जो शक्ति पहले किसी समय लोगों में उत्साह और भक्ति उत्पन्न करती थी आज अधिकांश और सर्वोत्तम मनुष्यों में केवल उदासीनता के भाव ही नहीं वरन् कभी-कभी द्वेष और और घृणा के भाव भी उत्पन्न करती है। वे लोग, जो दूसरों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और समझदार हैं, अब समझते हैं कि जिस सुनहरी चटक-मटक से यह शक्ति परिवेष्टित है वह जल्लाद (फांसी लगाने वाले) की लाल कमीज और मखमली पायजामे का झाड़ और कुछ भी नहीं है, जिसकी वजह [illegible] वह दूसरे कैदियों से भिन्न रहता है, क्योंकि उसने क्रूर और निन्द्य काम को अपने हाथ में ले लिया है।

लोगों में दिन-ब-दिन इस शक्ति के प्रति जो भाव बढ़ने जा रहे हैं, उन्हें शासक लोग भली भांति समझते हैं और इसलिए उनको इस शक्ति का आधार अब अभिषिक्त राजत्व, सार्वजनिक निर्वाचन अथवा शासकों के जन्म सिद्ध अधिकार के ऊपर नहीं किन्तु पूर्णतया दमन के ऊपर है। फलतः इस पर से लोगों का विश्वास उठ जाने के कारण शासकों को अधिकाधिक दमन करके राष्ट्रीय जीवन को कुचलना पड़ता है। इसका यह फल होता है कि लोगों में और भी अधिक असंतोष फैलता जाता है।

(४)

यह अजेय सत्ता अब विशेष अधिकारों, निर्वाचन अथवा प्रतिनिधित्व का राष्ट्रीय नींव के ऊपर नहीं किन्तु,नग्न बल प्रयोग के ऊपर ही जी रही है। साथ ही लोगों ने इस शक्ति में विश्वास करना और उसका सम्मान करना बन्द कर दिया है। अब वे यदि उसके आगे सिर झुकाते हैं तो मजबूर होकर।

विगत शताब्दी के ठीक मध्य-काल से यद्यपि सत्ता पर विजय प्राप्त करना तो कठिन हो गया, पर उसका प्रभाव बिलकुल जाता रहा। उसी समय से लोगों में इस भाव की जागृति हुई कि स्वतन्त्रता सत्ता से

भिन्न वस्तु है,—वह कल्पित और बनावटी स्वतन्त्रता नहीं जिसका उपदेश दमन के उपासकों की ओर से किया जाता है, और जिसके अन्दर उन्हीं के कथनानुसार मनुष्य को दण्ड का भय दिखला कर दूसरों की आज्ञा मानने के लिए बाध्य किया जाता है, किन्तु वह सच्ची स्वतन्त्रता, जिसका आशय यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य कर सके और अपना जीवन बिता सके, चाहे टैक्स दे अथवा न दे, सेना में भर्ती हो या न हो, अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मित्रता रखे अथवा उनका शत्रु बने। यह स्वतन्त्रता उस शक्ति के विपरीत है जिसके कारण थोड़े से मनुष्य शेष मनुष्य-समाज पर शासन कर सकते हैं।

इस मत के अनुसार शक्ति कोई ईश्वरीय तथा महान् वस्तु नहीं है, जैसा कि पहले लोग समझा करते थे। वह समाजिक जीवन की ऐसी अनिवार्य शर्त भी नहीं है। यह तो उस असभ्यता, बेढंग बल-प्रयोग का एक फल (परिणाम) मात्र है जो कुछ थोड़े से लोग दूसरों के ऊपर किया करते हैं। यह सत्ता बुरी चीज है, फिर चाहे वह लुई, नपोलियन, सुलतान, पार्लमेण्ट, कैबिनेट, मन्दारिन, राजा, नवाब, मिकाडो अथवा और किसी के हाथ में हो। इसमें सदा कुछ लोगों का शेष जनता पर अधिकार रहता और उस पर अत्याचार भी होता रहा।

अतः इस सत्ता का ही सबसे पहले नाश करना चाहिए।

परन्तु प्रश्न यह है कि सत्ता का अन्त किस प्रकार किया जाय और उसका अन्त हो जाने पर सारी बातों की व्यवस्था किस प्रकार की जाय कि इस सत्ता के अभाव में लोग कहीं फिर न एक दूसरे पर पशुओं की तरह बल प्रयोग न करने लग जाय?

सभी अराजक (राज्य की सत्ता न मानने वाले लोग इसी नाम से पुकारे जाते हैं) एक स्वर से इस प्रश्न का उत्तर यों देते हैं कि यदि इस शक्ति का वास्तव में नाश करना है तो उसका अन्त बल-प्रयोग के द्वारा नहीं वरन् इस बात के ज्ञान-प्रचार द्वारा किया जाना चाहिए कि

सत्ता दर असल एक स्वयं और खराब चीज है। दूसरा प्रश्न यह है कि बिना सत्ता की सहायता के समाज का संगठन किस प्रकार किया जाना चाहिए। इसका उत्तर ये अराजकवादी भिन्न भिन्न रीति से देते हैं।

मि० गॉडविन (अंग्रेज), जिनका जीवन-काल १८वीं शताब्दी के अन्त और १९वीं शताब्दी के आरम्भ काल में बतलाया जाता है, और मि० प्राउडन (फ्रांसीसी) जिनका कार्य-काल इस अंतिम शताब्दी के मध्य में था, पहले प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं—"सत्ता का नाश करने के लिए लोगों में ज्ञान का होना पर्याप्त है। सार्वजनिक भलाई [गॉडविन के मतानुसार] और न्याय [प्राउडन के मतानुसार] को सत्ता न्हा देती है। यदि लोगों में इस बात का प्रचार हो जाय कि सार्वजनिक भलाई और न्याय की प्राप्ति केवल शक्ति की अनुपस्थिति में ही की जा सकती है तो यह शक्ति आप से आप नष्ट हो जायगी।

दूसरे प्रश्न का अर्थात् 'बिना सत्ता के नवीन समाज की व्यवस्था किस प्रकार की जायगी और उसमें शांति की स्थापना किस प्रकार की जा सकेगी' गॉडविन और प्राउडन दोनों यह उत्तर देते हैं कि जिन लोगों के हृदयों में सर्व-साधारण की भलाई (गॉडविन के मतानुसार) और न्याय (प्राउडन के मतानुसार) के भाव विद्यमान हैं, वे अपने स्वभावानुसार सर्वथा न्याय-युक्त जीवन अवश्य [illegible]व देंगे।

बैकोनिन और क्रापाटकिन आदि यद्यपि इस बात को स्वीकार करते हैं कि सब साधारण में इस बात का ज्ञान हो जाना परमावश्यक और अत्यंत लाभप्रद है कि सत्ता (पशु बल) एक हानिकारक और मानव उन्नति में बाधा डालने वाली वस्तु है, तथापि उसको मिटाने के लिए जो उपाय हो सकते हैं उनमें से वे क्रांति को आवश्यक मानते हैं जिसकी तैयारी करने के लिए वे लोगों को सलाह भी देते हैं। दूसरे प्रश्न के उत्तर में वे यह कहते हैं कि ज्यों ही शासन-संगठन और वस्तुओं के वैयक्तिक अधिकार की बात नष्ट हो जायगी त्यों ही, जैसा कि स्वाभाविक है, लोग स्वयं ही विवेक-युक्त, स्वतंत्र, और लाभप्रद जीवन-संबंधी शर्तों को

स्वीकार कर लेंगे और उन्हें अपना लेंगे।

मावस स्टनर (जर्मन) और मि० टकर (अमरिकन) सत्ता को कैसे नष्ट किया जाय, इस प्रश्न का लगभग वही उत्तर देते हैं जो दूसरे लोग दिया करते हैं। वे कहते हैं—सत्ता अपने आप नष्ट हो जाय यदि लोग यह समझ लें कि प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यों के कार्य का कारण और सच्चा पथ प्रदर्शक है। वे यह भी कहते हैं कि सत्ता उस समय आप-से आप नष्ट हो जायगी, जब लोग समझ सकेंगे कि पशु-बल मानव-जीवन के इस प्रधान अंग का पूर्ण प्रदर्शन करने में केवल बाधक ही होता है, क्योंकि ऐसी दशा में न तो कोई उसको सिर झुकावेगा और न, जैसा कि मि० टकर का कहना है, उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा ही लेगा। दूसरे प्रश्न के संबंध में उनका उत्तर यह है कि इस शक्ति की आवश्यकता और उसके मिथ्या विश्वास से मुक्त होने पर और केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान रखते हुए काम करने वाले मनुष्य आप-से आप अपने जीवन को ऐसा व्यवस्थित बना लेंगे जो बिलकुल उचित और प्रत्येक मनुष्य के लिए लाभ-प्रद होगा।

एक बात में ये सभी पुरुष एकमत हैं और यह ठीक भी है कि शक्ति की दवा शक्ति नहीं है। क्योंकि शक्ति से एक शक्ति का नाश होने पर दूसरी शक्ति फिर भी बनी ही रहेगी, शक्ति का नाश तो मनुष्यों के हृदय में इस सत्य ज्ञान का प्रकाश डालने से हो सकता है कि शक्ति (पशु-बल) एक व्यर्थ और हानि-कारक वस्तु है, और लोगों को न उसे मानना चाहिए और न उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा लेना चाहिए। यह सत्य ऐसा है जो कभी अन्यथा नहीं हो सकता। शक्ति का नाश केवल लोगों में विवेक-पूर्ण ज्ञान का संचार होने से ही हो सकता है। परन्तु यह ज्ञान कैसा होना चाहिए? अशान्ति-वादियों का विश्वास है कि इस ज्ञान का आधार सर्व-साधारण की सलाह, न्याय, उन्नति अथवा मनुष्यों के व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धी विचारों के ऊपर होना चाहिए। परन्तु कहना न होगा कि ये सारी बातें ऐसी हैं जो एक-दूसरे से असहमत

नहीं है। सर्व-साधारण की भलाई, न्याय, उन्नति अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ की परिभाषा भी लोग भिन्न भिन्न प्रकार से करते हैं। अतएव हमें तो यह असम्भव प्रतीत होता है कि जो लोग एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं, और जो भिन्न भिन्न उद्देश से शक्ति (पशु बल) का विरोध करते हैं वे कभी उस शक्ति को मिटा सकेंगे जिसकी जड़ इतनी जमी हुई है और जिसकी इतनी योग्यता के साथ रक्षा की जा रही है। इसके अतिरिक्त यह अनुमान कर लेना और भी निराधार है कि सर्व-साधारण की भलाई, न्याय अथवा उन्नति सम्बन्धी नियमों के विचार मात्र धारण करने से वे अत्याचार युक्त लोग जो कि सर्व-साधारण की भलाई के खातिर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़ना नहीं चाहते, पारस्परिक स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं करेंगे और न्याय पूर्ण जीवन व्यतीत करने में लग जायगे। मॉक्स स्टनर और टकर का यह उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी सिद्धान्त (कि प्रत्येक मनुष्य के अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ही ध्यान रखने से सब लोगों में उचित सम्बन्ध स्थापित हो सकता है) केवल अस्थायी ही नहीं परन् उन बातों के सर्वथा प्रतिकूल है जो वस्तुतः अब तक हुई हैं और अब भी हो रही हैं।

अतः यद्यपि क्रान्तिवादी मानते हैं कि सत्तावाद के विनाश का अगर कोई उपाय हो सकता है तो वह आध्यात्मिक ही हो सकता है, तथापि वह उनके पास नहीं है क्योंकि उनकी जीवन-कल्पना पार्थिव और धर्म विरुद्ध है। उनकी सारी बातें अनुमान पर ही निर्भर हैं। और अपने आदर्शों को प्राप्त करने का समुचित साधन न बता सकने के कारण पशु-बल और दमन के समर्थकों को क्रान्तिवादियों द्वारा प्रतिपादित सच्चे सिद्धान्तों को मानने से इन्कार करने का अवसर मिल जाता है।

इस आध्यात्मिक अस्त्र को लोग बहुत पहले से जानते हैं। इसने सदैव सत्तावाद का नाश किया है और जिन लोगों ने इसका प्रयोग किया है उन्होंने पूर्ण और शाश्वत स्वाधीनता प्रदान की है। उपाय

बिलकुल सीधा है—मनुष्य अपना जीवन धार्मिक बनावे। वह अपने इस सामारिक जीवन को, अपने सपूर्ण अनन्त जीवन का एक आंशिक प्रदर्शन-मात्र समझ, और अपने इस जावन का अनन्त जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह समझ कि इस अनन्त जीवन के नियमों का पालन करने में हा उसका बड़ा से-बड़ा कल्याण है। वह उन नियमों का आदर मनुष्य के बनाये नियमों की अपेक्षा अधिक करे, और उन्हीं का पालन करे।

केवल ऐसे ही धार्मिक विश्वास से, जो समस्त मनुष्य-समाज के लिए एक ही प्रकार के जीवन का विधान करता है और जो सत्तावाद के आधिपत्य को स्वीकार करने और उसमें भाग लेने का तीव्र विरोध करता है, सत्तावाद का सचमुच नाश हो सकता है।

केवल ऐसे ही जावन को आदर्श मानने से मनुष्यों का कल्याण हो सकता है। इसी के द्वारा व बिना बल प्रयोग का आश्रय लिये विवेक पूर्ण और न्याय युक्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

कैसा आश्चर्य है कि लोगों को इस बात का विश्वास होने पर ही कि वर्तमान समय का सत्ता अजेय है और शक्ति के द्वारा इस समय वह नष्ट नहीं की जा सकती, इनकी समझ में यह स्वत प्रमाणित और बिलकुल सत्य बात आई कि शक्ति और उससे उत्पन्न होने वाली सारी बुराइ मनुष्यों के कुत्सित जीवन की केवल परिणाम मात्र है, और इसलिए इस शक्ति का तथा उसमे उत्पन्न होने वाली सारी बुराइयों का अन्त करने के लिए लाग अपन जीवन का अच्छा और सदाचार-मय बनावें।

और, सुबह का भूला भटका शाम को तो घर पर आ गया। अब उन्हें एक बात समझ लेना है। वह यह है कि लोगों के जीवन को अच्छा और सदाचार-मय बनान का एक-मात्र उपाय, जो स्वाभाविक हो और जिसे अधिकाश जन समाज भी आसानी से समझ ल।

केवल ऐसी ही धार्मिक शिक्षा के प्रचार और प्रसार से लोग उस

आदर्श को प्राप्त कर सकते हैं जिसका इस समय उनके अन्तःकरण में आविर्भाव हुआ है और जिसके लिए वे प्रयत्न कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त सत्ता को मिटाने और शक्ति की सहायता के बिना मनुष्यों में सदाचार-मय जीवन स्थापित करने के लिए दूसरा कोई उद्योग करना केवल अपने परिश्रम का व्यर्थ व्यय करना है। इससे हम अपने उस लक्ष्य के निकट नहीं पहुंच सकेंगे, जिसकी ओर पहुंचने के लिए लोग प्रयत्न कर रहे हैं वरन् उससे और भी दूर हट जायगे।

(२)

सज्जनो यही बात मैं आपसे कहना चाहता हू। आप सत्यशील हैं और आपका हृदय शुद्ध है,इसीलिए तो आप इस स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन से असतुष्ट होकर अपनी शक्ति को अपने भाइयों की सेवा में लगाना चाहते हैं। यदि आप सरकारी कामों में हिस्सा लेते हैं अथवा उसमें हिस्सा लेने के इच्छुक हैं और इस उपाय से लोगों की सेवा करना चाहते हैं, तो इस बात पर जरा विचार कीजिए कि क्या प्रत्येक सरकार पशु बल के सहारे टिकी हुई है अथवा नहीं ? अपने आपसे यह प्रश्न करने पर आपको मालूम होगा कि ससार में एक भी सरकार ऐसी नहीं है जो बल प्रयोग, दगाबाजनी और हत्या न करती हो, उनके लिए तैयार न रहती हो और इन्हीं बातों के ऊपर अपना अस्तित्व न बनाये हो।

अमेरिका के एक लेखक—मि० थारो—ने एक सुन्दर लेख लिखा है। उसका विषय है "सरकार की आज्ञा न मानना मनुष्य का कर्तव्य क्यों है ?" उसमें उन्होंने यह बताया है कि सयुक्त राज्य (अमरिका) की सरकार को एक डॉलर का टैक्स देने से उन्होंने कैसे इन्कार कर दिया। अपनी इस इंकारी का कारण उन्होंने यह बतलाया कि मैं अपने एक डॉलर से ऐसी सरकार के कामों में कोई सहायता करना नहीं चाहता जो अफ्रीका के हबशियों को गुलाम बनाये रखने की इजाजत देती है। क्या ठीक ऐसा ही भाव सयुक्त-राज्य अमेरिका, जैसे समुन्नत

राज्य के नागरिक का अपनी सरकार का उन करतूतों के सम्बन्ध में नहीं हो सकता और न ही होना चाहिए, जो क्यूबा और फिलीपाइन्स में हो रही है? हबशियों के साथ में होने वाले व्यवहार और चीनियों के देश निकाले के सम्बन्ध में क्या एक अमरिकन के चित्त में यही भाव उत्पन्न नहीं होने चाहिएँ? अथवा इंग्लैंड का नागरिक अफीम-सम्बन्धी नीति और बोअर लोगों के साथ होने वाले अमानुषिक व्यवहार के सम्बन्ध में अपनी सरकार के प्रति ऐसा ही भाव नहीं धारण कर सकता और उसे न करना चाहिए? अथवा क्या फ्रांस का नागरिक फ्रांस की सरकार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही भाव नहीं धारण कर सकता जिसने सैनिकवाद का हौआ दिखाकर लोगों पर आतंक जमा रखा है?

इसलिए सरकारों के नग्न स्वरूप को एक बार पहचान लेने पर कोई भी सच्चा मनुष्य, जो अपने देशवासी भाइयों की सेवा करना चाहता है, उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा नहीं ले सकता। बशर्ते कि वह यह न मानता हो कि साधन की पवित्रता का प्रमाण साध्य की सिद्धि ही है। परन्तु ऐसे कार्य से किसी का उपकार नहीं हो सकता, न सेवकों का और न सेवितों का।

बात बिलकुल सीधी है। सरकारकी अधीनता स्वीकार करके और उसके कानून की सहायता द्वारा आप लोगों के लिए अधिक स्वतंत्रता और अधिकार लेना चाहते हैं न? परंतु लोगों की स्वतंत्रता और अधिकार सरकार तथा, सामान्यतया, शासक-समाज की सत्ता के विरोधी अनुपात में है। जितनी ही अधिक स्वतंत्रता और अधिकार लोगों को प्राप्त होंगे उतना ही कम शक्ति और लाभ उससे सरकार को होगा। और इस बात को सरकारें खूब अच्छी तरह जानती हैं। उनके हाथ में सत्ता होने के कारण वे लोगों को खूब आजादी के साथ मनमानी बातें बकने देती हैं और कुछ थोड़े-से मामूली सुधार भी कर देती हैं, जिससे उनकी उदारता का परिचय मिलता रहे। परंतु जिस समय कोई ऐसा आन्दोलन उठाया जाता है जिससे शासकों के विशेषाधिकार ही नहीं

वरन् उसका अस्तित्व (हस्ती) भी खतरे में पड़ जाता है तो वे बल प्रयोग द्वारा इन आन्दोलनोंको दबाकर आन्दोलन करने वालों को फौरन गिरफ्तार कर लेते हैं। इसलिए सरकारी शासन की सहायता का, अथवा पार्लमेंट के द्वारा लोगों की सेवा करने के आपके सारे प्रयत्नों का परिणाम केवल यह होगा, कि आप अपने इस काम से शासकों की शक्ति को और भी अधिक बढ़ा देंगे और जितनी ही अधिक आप में इस काम की सच्ची लगन होगी उतना ही अधिक आप जानते हुए अथवा अनजान में, इस शक्ति में भाग लेने के दोषी होंगे। यही बात उन लोगों के सम्बन्ध में है जो लोग वर्तमान शासन व्यवस्था के द्वारा जनता की सेवा करना चाहते हैं।

यदि, इसके विपरीत आप उन सच्चे हृदय वाले लोगों में से हैं जो क्रान्तिकारी साम्यवादी आन्दोलनों के द्वारा राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं (मनुष्य को कभी सन्तोष न देने वाले पार्थिव सुखोंके पीछे दौड़ने के लिए जो आदर्श प्रेरणा करता है उसकी तुच्छता के विषय में विशेष कहने की जरूरत नहीं) तो आपको उन साधनों पर भी विचार कर लेना चाहिए जो आपको अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्राप्त हैं। ये साधन सर्वप्रथम तो नीति विरुद्ध हैं, इनमें झूठ, दगाबाजी, और अन्य और हत्या भरी पड़ी है दूसरे इन साधनों से किसी भी प्रकार उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अपने अस्तित्वकी रक्षा करने वाली सरकारों का बल और चौकन्नापन इस समय इतना ज्यादा है कि छल कपट, धोखेबाजी अथवा सख्ती से उनका मिटना केवल असम्भव ही नहीं है वरन् ये चीजें उन्हें हिला तक नहीं सकतीं। जितने भी क्रान्तिकारी आन्दोलन किये जाते हैं उन सबके कारण सरकारों को यह बतलाने का फिर से मौका मिल जाता है कि उनका पशु-बल एक जरूरी चीज है। और इससे उनकी शक्ति और भी बढ़ जाती है।

लेकिन अगर हम असम्भव बात को भी सम्भव मान लें—अर्थात् यह मान लें कि हमारे समय में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन को सफलता

प्राप्त हो सकती है, तो सबसे पहले, हम इस बात का आशा कैसे कर लें कि परम्परागत प्रथा के विरुद्ध एक शक्ति पर विजय प्राप्त करने वाली दूसरी शक्ति लोगों की स्वाधीनता को बढ़ा देगी और विजय प्राप्ति द्वारा इसने जिस शक्ति का स्थान ग्रहण किया है, उसकी अपेक्षा अधिक उदार और दयालु होगी ? दूसरे यदि सामान्य बुद्धि और अनुभव के विरुद्ध, यह भी सम्भव हो कि एक शक्ति को मिटाकर दूसरी शक्ति लोगों को ऐसी स्वतंत्रता प्रदान कर सकेगी जो जीवन की उन अवस्थाओं को स्थापित करने के लिए आवश्यक है, जिन्हें वे अपने लिए अत्यधिक लाभप्रद समझते हैं, तब तो हमें यह भी मान लेना होगा कि स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले लोग आपस में पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी अवस्था उत्पन्न कर सकेंगे।

हम मान लेते हैं कि दाहोमियों का एक महारानी उदार-से-उदार शासन की स्थापना करती है। वह परिश्रम के साधनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाने की बात को भी स्वीकार कर लेती है। फिर भी शासन का कार्य ठीक तरह से चलाने और परिश्रम के साधन किसी व्यक्ति-विशेष की निजी सम्पत्ति न बनाये जा सकें इत्यादि बातों का ध्यान रखने के लिए किसी-न-किसी को अपने हाथों में सत्ता तो लेनी ही पड़ेगी। परन्तु जिस समय तक ये लोग अपने-आपको दाहोमी समझते रहेंगे और उनके जीवनादर्श में कोई परिवर्तन न होगा, तब तक यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि—यद्यपि दूसरे ही रूप में क्यों न सही—थोड़े से दहोमी दूसरों के ऊपर वैसा ही अत्याचार और बल-प्रयोग करते रहेंगे जैसा कि शासन-व्यवस्था के अभाव में और परिश्रम के साधनों को बिना राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाये किया जा सकता है। साम्यवादी ढंग पर अपने आपको संगठित करने से पहले दाहोमियों को चाहिए कि वे प्रजा-पीड़न और रक्तपात की तरफ से अपनी तबियत को खींच लें। ठीक यही बात यूरोप के लोगों के लिए भी आवश्यक है।

हम चाहते हैं कि लोग एक-दूसरे को बिना कष्ट दिए और सताये

परस्पर प्रेम-मय जीवन व्यतीत कर सकें। पर यह पशु बल अथवा किसी संस्था द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो ऐसी सुनीति पूर्ण परिस्थिति की आवश्यकता है जिसके अनुसार लोग किसी के दबाव से नहीं, बल्कि अपने अन्तःकरण से ही दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं दूसरे लोग उनके साथ करें। यह असम्भव नहीं, ऐसे लोग अब भी मौजूद हैं। वे धार्मिक सम्प्रदाय के लोगों में विद्यमान हैं। ऐसे लोग वास्तव में पशु-बल द्वारा रक्षित कानून की सहायता नहीं लेते। वे बिना एक-दूसरे को कष्ट पहुंचाये अब भी समाज में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अतः इस समय हमारे ईसाई समाज का कर्त्तव्य स्पष्ट है। उन्हें चाहिए कि वे ईसा के सन्देश को समाज के कोने-कोने में पहुंचावें। ईसा का सन्देश यह नहीं है कि वर्तमान अत्याचारी सरकारों की सत्ता को स्वीकार कर धर्म ग्रन्थों में लिखी क़वायद रोज़ सुबह-शाम या हर रविवार मंत्रोच्चार के साथ करते जाओ। ईसाई धर्म यह करने का आदेश नहीं करता न इसके प्रचार की जरूरत है कि आओ, ईसा की शरण गहो वह तुम्हें पापों से बचायेगा। प्रचार उन्हें इस बात का करना चाहिए कि लोग सरकारों के काम में कोई भाग न लें उनकी सारी मांगों का अस्वीकार कर दें। क्योंकि ये सारी मांगें—एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सच्चे ईसाई धर्म के सर्वथा विरुद्ध हैं। और यदि बात ऐसी ही हो तो यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि जो लोग अपने पड़ोसियों की सेवा करने के इच्छुक हैं, उन्हें अपनी शक्ति नवीन रूप से समाज संगठन करने में नहीं, वरन् अपने तथा दूसरे लोगों के आचरण में परिवर्तन करने और उसे शुद्ध एवं पवित्र बनाने में लगानी चाहिए।

जिन लोगों का कार्य-क्रम दूसरा है वे प्रायः यह समझते हैं कि मनुष्यों के आचरण-सम्बन्धी विश्वास और रहन सहन के ढंग आदि में साथ ही साथ उन्नति होती है। परन्तु ऐसा ख्याल करके वे एक कार्य को कारण और कारण को अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाली किसी बात को कार्य समझ बैठने की गलती करते हैं।

मनुष्यों के चरित्र और जीवन सिद्धान्तों में परिवर्तन होने से लोगों के रहन-सहन में अपने आप परिवर्तन हो जाता है रहन-सहन के ढग में परिवर्तन होने से मनुष्यों के चरित्र और जीवन सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं होता। मनुष्यों को सुधारने का यह गलत तरीका है। इससे तो उलटा मनुष्य का ध्यान मिथ्या और कल्पित स्रोत की ओर आकृष्ट हो जाता है। अत लोगों के चरित्र और जीवन सिद्धान्तों में परिवर्तन करने की आशा से उनके रहन-सहन के ढग में परिवर्तन करना व्यर्थ है। इससे अपने निश्चित ध्येय की तरफ पहुचने की बजाय हम अनजाम में दूसरी ही तरफ भटक जायेंगे।

यह बात बिलकुल साफ है। फिर भी लोग गलती कर जाते हैं। इसलिए कि अपना सुधार करने की अपेक्षा पशु बल की सहायता से दूसरों का मजबूरन अपनी इच्छा के अनुकूल झुका लेना कुछ आसान है। और इसका प्रभाव भी वैसा ही भ्रमोत्पादक है।

परन्तु प्यारे सुधारको, अगर तुम सच्चा सुधार चाहते हो तो इस गलती से बचना। नहीं तो तुम्हारा सारा त्याग, सारा बलिदान और तुम्हारा सारा कार्य मिट्टी हो जायगा जिसके लिए तुम अपने प्राणों की भी पर्वाह नहीं करते।

(६)

लोग कुछ सच्चे और कुछ बनावटी क्रोध में आकर कहते हैं—"लेकिन जब हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर लोग दुःख से पीड़ित हैं और नाना प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं, तो शान्ति के साथ ईसाई धर्म का उपदेश और प्रचार करने से हमारी आत्मा को सन्तोष नहीं होता। हम बहुत जल्दी उनकी सेवा करना चाहते हैं। इसके लिए हम अपने परिश्रम का, यहा तक कि अपने जीवन तक का, बलिदान करने को तैयार हैं।"

इन लोगों को मेरा उत्तर यह होगा कि तुम कैसे जानते हो कि तुम्हें ठीक उसी तरीके से लोगों की सेवा करने की आज्ञा मिली है जिसे

तुम सबसे अधिक उपयोगी और व्यवहार्य समझते हो ? जो कुछ तुम कहते हो, उससे तो सिर्फ इतना पता चलता है कि तुम यह बात पहले से ही तय कर चुके हो कि धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए तुम मनुष्य-समाज की सेवा नहीं कर सकते, तुमने तो मानो निश्चय कर रखा है कि सच्ची सेवा उस राजनीतिक कार्य द्वारा ही हो सकती है जो तुम्हें सबसे अधिक आकर्षित करता है।

सभी राजनीतिज्ञ इसी तरह सोचते हैं और उन सबकी बातें परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध हैं और इसलिए यह बात निश्चय है कि वे सभी सही नहीं हो सकते। क्या ही अच्छा होता यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार जिस प्रकार चाहता, लोगों की सेवा कर सकता ? पर बात एसी नहीं है। लोगों की सेवा करने और उनकी दशा सुधारने का सरल एक ही उपाय है। वह उपाय है उस शिक्षा का उपदेश करना और उसके अनुसार कार्य करना जिससे मनुष्य में अपने आपको सुधारने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। एक सच्चा धार्मिक पुरुष, जो हमेशा मनुष्यों के बीच में रहता है, उनसे द्वेष नहीं करता, अपनी आत्म-शुद्धि इसी में समझता है कि वह अपने तथा दूसरे लोगों के बीच उत्तम और अधिकाधिक प्रेममय सम्बन्ध स्थापित करे। मनुष्यों में प्रेम पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाने से उनकी साधारण अवस्था का अवश्य सुधार होगा, यद्यपि इस उन्नति का रूप लोगों पर अप्रकट ही रहता है।

यह सच है कि सरकारी पार्लमेण्ट अथवा क्रान्तिकारी आन्दोलनों द्वारा लोगों की सेवा करने में हम पहले से ही उस फल का अनुमान कर सकते हैं जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, और साथ ही इसके आनन्द मय और विलासिता पूर्ण जीवन की समस्त सुविधाओं से लाभ उठा सकते हैं, और भारी ख्याति, लोगों की स्वीकृति और अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं। यदि उन लोगों को जो एसे कामों में हिस्सा लेते हैं, किसी समय कष्ट भी उठाना पड़ता है, तो लोग उस विजय की आशा से उसे, भुला देते हैं जो कि वे सोचते हैं, उन्हें मिलेगी।

सैनिक-कार्य में कष्ट तथा मृत्यु की और भी अधिक सम्भावना है, फिर केवल ऐसे लोग उसे पसन्द करते हैं जिनमें बहुत थोड़ी नैतिकता है और जो स्वार्थ-मय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले हैं।

दूसरी ओर सदाचार-युक्त धार्मिक आचरण ऐसी वस्तु है जिसका परिणाम हमें स्पष्ट नहीं दिखाई देता। दूसरे यह आन्दोलन चाहता है कि लोग बाहरी सफलता का परित्याग कर दें। इससे अच्छा प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त होना तो दूर, परन्तु वह लोगों को सामाजिक दृष्टि से नीची-से-नीची स्थिति को पहुंचा देता है—उन्हें अपमान और दण्ड का ही नहीं, बल्कि अत्यंत निर्दयतापूर्ण दुःखों और मौत तक का शिकार बनाता है।

इस प्रकार, इस समय जब कि आम तौर पर लोगों को सेना में जबरदस्ती भर्ती करके[1] उन्हें सैनिक बनाकर यह अपराधपूर्ण हत्या का काम करने को कहा जा रहा हो, धर्माचरण मनुष्य को इस बात का आदेश करता है कि वह उन तमाम सजाओं को बर्दाश्त करे जो सैनिक-सेवा अस्वीकार करने पर सरकार उसे दे। इसलिए, धर्माचरण बहुत कठिन है, पर यही मनुष्य को सच्ची स्वतंत्रता का भान कराता है और मनुष्य को इस बात का विश्वास दिलाता है कि वह वही काम कर रहा है जो करना चाहिए।

अतएव, धर्माचरण ही वास्तव में एक लाभदायक चीज है। क्यों कि इससे केवल उस निःश्रेयस की सिद्धि ही नहीं होती वरन् साथ-ही साथ और एक बिलकुल स्वाभाविक और साधारण ढंग से उन सारी बातों की भी प्राप्ति हो जाती है जिनके लिए समाज-सुधारक लोग ऐसी कृत्रिम रीति से प्रयत्न करते रहते हैं।

इस प्रकार मनुष्यों की सेवा करने का केवल एक ही उपाय है और

---

[1]अनिवार्य सामाजिक सेवा का-कानून यूरोप के कई देशों में महा युद्ध के पहले-पहल तक था।

यह यह कि मनुष्य शुद्ध और सदाचार-मय जीवन व्यतीत करे। यह उपाय केवल ख्याली उपाय नहीं है—जैसा कि वे लोग समझते हैं जिनको इससे कोई नकद लाभ नहीं पहुंचता। हां, इसके अतिरिक्त जितने भी दूसरे उपाय हैं वे सभी ख्याली हैं, जिनके द्वारा साधारण अशिक्षित जनता के नेता उन्हें उस एक-मात्र सच्चे उपाय की ओर से हटाकर एक बनावटी और झूठे मार्ग की ओर प्रलोभन देकर लगा देते हैं।

(७)

कुछ जल्दबाज लोग पूछते हैं—यदि इसी मार्ग से मनुष्य का कल्याण होगा तो यह तो बताइए कि यह कल्याण होगा कब ?

क्या ही अच्छा होता अगर हमें अपने सुकर्मों का फल जल्दी मिल जाता ! परन्तु बात यह है कि सुकर्म बहुत धीरे धीरे फूलते फलते हैं। आखिर बीज को उगने, उसके डाल-पत्तियां आने, उसे फूल लगने आदि में कुछ देर तो लगेगी ही। तब कहीं वृक्ष होगा।

मनुष्य जमीन में डालियां गाड़ सकता है, और कुछ देर तक वे जंगल-सी प्रतीत भी होंगी परन्तु वे कहां असली जंगल की बराबरी कर सकती हैं ? इसी प्रकार थोड़ी देर के लिए ऐसा प्रबन्ध किया जा सकता है, जैसा कि सरकारें किया करती हैं, कि समाज के अन्दर सुव्यवस्था है, परन्तु ऐसी कृत्रिमता से सच्ची व्यवस्था की भी सम्भावना नष्ट हो जाती है। एक तो एक अच्छी चीज की बुरी नकल करके अच्छी चीज के प्रति वे लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। दूसरे, यह नकली व्यवस्था केवल शक्ति (पशु बल) की सहायता से स्थापित की जाती है, और शक्ति शासक और शासित दोनों को कुटिल बना देती है। इस लिए सच्ची सुव्यवस्था की बहुत कम आशा रह जाती है।

इसलिए एक आदर्श को प्राप्त करने में जल्दबाजी करने से बड़ी हानि होती है। उससे सफलता मिलना तो दूर, उलटे असफलता मिलती

भी हो तो उसमें बाधा पड़ जाती है।

अतएव इस प्रश्न का उत्तर कि—बिना बल प्रयोग के मानव-समाज का सुसंगठन शीघ्र हो सकेगा अथवा नहीं, इस बात पर निर्भर करता है कि साधारण जन समाज के शासक, जो सच्चे हृदय से लोगों की भलाई चाहते हैं, इस बात को शीघ्र समझ लें कि वे अपने आदर्शों से ठीक उलटी दिशा में जा रहे हैं। पहले उन्हें इन बातों को छोड़ना होगा। अर्थात् पुराने ढकोसलों और मिथ्या विश्वासों को उन्हें छोड़ना होगा। शुद्ध धर्माचरण को स्वीकार करना होगा और लोगों की शक्ति को सरकार की रक्षा और क्रान्ति तथा साम्यवाद की उपासना की ओर लगाने से इनकार करना होगा। यदि वे लोग, जो सचमुच शुद्ध हृदय के साथ अपने पड़ोसियों की सेवा करना चाहते हैं, केवल इतना समझ लें कि राज्य के समर्थकों और क्रान्ति-वादियों के बतलाये हुए समाज-संगठन के उपाय बिलकुल व्यर्थ और निष्फल हैं—यदि वे केवल इतना समझ लें कि लोगों को उनकी इस दुरवस्था से मुक्त करने का उपाय उनके हाथों में है, अर्थात् केवल यह कि लोग स्वयं न्यायमय और धार्मिकों का सा जीवन व्यतीत करना चाहें, परस्पर भ्रातृ-भाव के साथ धार्मिक जीवन व्यतीत करने लग जाय, और यदि वे इस सबसे बड़े और आदि नियम को अपने जीवन का एक-मात्र सिद्धान्त बना लें कि "मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह चाहता है दूसरे उसके साथ करें—तो हमारे रहन-सहन का यह सारा ढंग जो बुद्धि विरुद्ध एवं निर्दयतापूर्ण है, बड़ी शीघ्रता के साथ बदल जायगा, और उसके स्थान में लोगों के नवीन विचारों और ज्ञान के अनुसार नवीन रहन-सहन के ढंग का जन्म होगा।"

जरा विचार तो कीजिए, इस समय राज्य-संस्था—जिसके जीवन की अवधि आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है—तथा क्रान्तियों से उसकी रक्षा में कितनी अधिक और उत्तम बुद्धि व्यय की जा रही है? कितने

उत्साही युवा पुरुष क्रान्तिकारी आन्दोलनों में, राज्य के साथ में असम्भव संग्राम करने में अपनी शक्ति का व्यय कर रहे हैं और कितनी शक्ति साम्यवादी सिद्धान्तों की व्यर्थ परीक्षा में व्यय की जा रही है। इन सब बातों से उस कल्याण की प्राप्ति में विलम्ब ही नहीं हो रहा है, वरन् यह असम्भव हो रही है जिसके लिए सारा मनुष्य-समाज उद्योग कर रहा है। क्या ही अच्छा हो, यदि वे सभी मनुष्य, जो अपनी शक्ति को इस प्रकार व्यर्थ व्यय कर रहे हैं और कभी-कभी उससे अपने पड़ोसियों को हानि भी पहुँचा रहे हैं, अपनी इस शक्ति को उस काम में लगावें जिससे सामाजिक जीवन के अच्छे होने की सम्भावना है जिससे अपने अन्तःकरण की शुद्धि हो।

एक मनुष्य नये मज़बूत सामान से कितनी बार नया मकान बनाने में समर्थ हो सकेगा, अगर वह भारी मेहनत, जो पुराने मकान की मरम्मत में ख़र्च की गई है और अब भी की जा रही है दृढ़ता और होशियारी के साथ नये मकान के लिए मसाला तैयार करने और उस मकान के बनाने में ख़र्च की जाय। हाँ यह बात स्पष्ट है कि नया मकान कुछ ख़ास ख़ास आदमियों के लिए इतना आराम और सुभीते का न होगा जितना कि पुराना था, पर निस्सन्देह वह पुराने की अपेक्षा अधिक मज़बूत और टिकाऊ होगा, और उसमें उन सुधारों की भी पूर्ण सम्भावना होगी जो केवल कुछ ख़ास-ख़ास आदमियों के लिए ही नहीं बल्कि सभी आदमियों के लिए आवश्यक हैं।

इसलिए यहाँ पर मैंने जो कुछ भी कहा है, वह बिलकुल शुद्ध, सर्व साधारण की समझ में आने योग्य और अखण्डनीय सत्य है। यही कि लोग स्वयं अच्छे बनेंगे अपनी आत्मा को पवित्र रखेंगे तभी हमारा सामाजिक जीवन भी सुखमय और जीने योग्य हो सकेगा।

लोगों को अच्छे जीवन की ओर प्रवृत्त करने का केवल एक ही मार्ग है, अर्थात् यह कि समझदार मनुष्य स्वयं शुद्ध और सदाचार-मय

जीवन व्यतीत करें। इसलिए जो लोग मनुष्यों में शुद्ध और सदाचार-मय जीवन का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे पहले खुद अंतःकरण की शुद्धि करें—उस बात को पूरा करें जो बाइबिल में इन शब्दों में प्रकट की गई है।

"अपने परम पिता के समान शुद्ध और पूर्ण बनो।"

२

स्वदेश प्रेम और सरकार

(१)

मैं पहले कई बार अपना यह विचार प्रकट कर चुका हूं कि स्वदेश प्रेम का भाव इस समय बिलकुल अस्वाभाविक, विवेक शून्य और हानिकारक है, और उन तमाम बुराइयों का कारण हो रहा है जिससे मनुष्य-समाज दुःख पा रहा है और त्राहि त्राहि कर रहा है इसलिए, इस भाव को फैलाने की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि इस समय किया जा रहा है, बल्कि, इसके विपरीत, उन सभी उपायों से दबाना और उसकी जड़ खोद फेंकना चाहिए जो विवेकवान् और बुद्धिमान् मनुष्यों को प्राप्त हो सकते हैं। तथापि आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि एक इसी भाव से प्रेरित होकर सारे संसार में सेनाओं का संगठन किया जा रहा है, और बड़े-बड़े युद्ध लड़े जा रहे हैं, जिससे लोगों का सत्यानाश हो रहा है। मेरी ये सारी दलीलें, जिनमें यह बतलाया गया है कि यह स्वदेश प्रेम कितना भ्रम पूर्ण, इतिहास विरुद्ध और हानिकारक है, या तो अनसुनी कर दी गई हैं या जान-बूझ कर उनको गलत समझा गया है। कुछ लोग यह विचित्र और अपरिवर्तनीय उत्तर देते हैं कि केवल कुत्सित स्वदेश प्रेम ही बुरा है, परन्तु वास्तविक और उत्तम स्वदेश प्रेम बड़ा ही ऊंचा और सुनीति पूर्ण भाव है, जिसकी निन्दा करना मूर्खता ही नहीं वरन् दुष्टता है।

कोई यह बताने का कष्ट नहीं करता कि यह वास्तविक और उच्च

कोटि का स्वदेश प्रेम क्या है, यदि इस विषय में [illegible] है तो उससे इस विषय का स्पष्टीकरण नहीं होगा [illegible] चीज को ही स्वदेश प्रेम की उपाधि दे दी जाती है [illegible] की कोई भी बात पाई नहीं जाती और जिसके कारण [illegible] को इतने कठोर दुःख भोगने पड़ते हैं।

साधारणतः यह कहा जाता है कि अमुक और अमुक कोटि का स्वदेश प्रेम अपने देश-वासियों अथवा राज्य के लिए ऐसे वास्तविक धन की अभिलाषा करता है जिससे दूसरे देश वालों के हित में कोई बाधा न पड़े।

अभी हाल में एक अंग्रेज के साथ वर्तमान युद्ध [1] के विषय में बातचीत करते हुए मैंने उनसे कहा कि युद्ध का वास्तविक कारण लाभ नहीं, जैसा कि प्रायः कहा जाता है, किन्तु स्वदेश प्रेम है। इसका नमूना जर्मनी जाति है। यह अंग्रेज महाशय मुझसे सहमत न हुए। वे कहने लगे "यदि ऐसा ही हो, तो भी अंग्रेजों में इस समय जिस स्वदेश प्रेम के भाव भरे हुए हैं वह एक नीच दर्जे का कुत्सित स्वदेश प्रेम है। उच्च कोटि का स्वदेश-प्रेम (जैसा कि इसके अन्दर मौजूद था) तो यह कहा जा सकता है जब मनुष्य अच्छे अच्छे लोक-हितकर काम करने लगे।"

"मैं चाहता हूं सभी लोग ऐसा ही करें।" वे फिर बोले। उनका अभिप्राय सच्चे अर्थात् नैतिक, पार्थिव और ऐसे कल्याण से था जिसका लाभ सबको एक-सा मिल सके। और इसलिए ऐसे लाभ की किसी एक मनुष्य-समाज के लिए ही इच्छा करना देश प्रेम नहीं किन्तु देश द्रोह है।

प्रत्येक मनुष्य-समाज के गुण विशेष भी स्वदेश प्रेम नहीं हैं; यद्यपि इन स्वदेश प्रेम-समर्थकों की ओर से ये बातें भी स्वदेश प्रेम में गिनाई जाती हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य-समाज में कुछ विशेषताएं होना मानव उन्नति की आवश्यक बातें हैं, और इसलिए इन विशेषताओं

की रक्षा करना सच्चा स्वदेश प्रेम और एक उत्तम और लाभ प्रद भावना है। परन्तु एक बात स्पष्ट है। उसे भी हमें ध्यान में रखना चाहिए। यदि एक समय में प्रत्येक मनुष्य को ये विशेषताएं—ये रस्म रिवाज, उद्देश्य और भाषाएं मानव जीवन के लिए आवश्यक शर्तें थीं, तो इस समय में ये विशेषताएं उस जीवन के मार्ग में रोड़ अटकाती हैं जो एक आदर्श जीवन समझा जाता है। परस्पर भ्रातृ भाव से मिल जुलकर रहना यही आजकल आदर्श जीवन है। इसलिए किसी एक राष्ट्र की पृथक् राष्ट्रीयता को कायम रखने के आग्रह का फल होता है अन्य राष्ट्रों का इसी दशा में प्रवृत्त होना—रूस जर्मनी, फ्रांस अथवा इंग्लैंड को अपनी राष्ट्रीयता का पोषण और रक्षा करते देख हंगरी, पोलैंड और आयर्लैंड को ही नहीं वरन् बास्क प्रोवेंकल आदि अन्य देशों को भी अपनी राष्ट्रीय विशेषता की रक्षा करने की इच्छा जाग्रत होती है। दूसरे लोगों में प्रेम भाव और ऐक्य स्थापित होना तो दूर रहा वे एक दूसरे से और भी दूर और अलग हो जाते हैं।

इसलिए काल्पनिक स्वदेश प्रेम की मैं बात नहीं करता। मैं तो वास्तविक और सच्चे स्वदेश प्रेम के विषय में कह रहा हूँ जिससे हम सब लोग परिचित हैं, जिसके प्रवाह में आज सैंकड़ों मनुष्य बहे चले जा रहे हैं और जिससे मानव समाज को इतनी अधिक क्षति पहुंच रही है। वह अपनी जाति के लिए आध्यात्मिक लाभ की अभिलाषा नहीं रखता (केवल अपनी जाति के लिए ही आध्यात्मिक लाभ की अभिलाषा करना असम्भव है), वह तो और सब जातियों और देशों को छोड़ अपनी जाति को लाभ पहुंचाने की एक उत्कट और निश्चित भावना है। और इसलिए यह स्वदेश प्रेम अपनी जाति तथा राज्य के लिए अधिक से अधिक सुविधाएं और शक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखता है, और इनकी प्राप्ति तो हमेशा दूसरे लोगों अथवा राज्यों की सुविधाओं और शक्ति को नुकसान पहुंचाकर ही की जा सकती है।

इस कारण यह स्वदेश प्रेम (Potriotism) भाव की दृष्टि से

एक कुत्सित और निम्न कोटि का तथा हानिकारक भाव है और सिद्धान्त की दृष्टि से एक मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त है। क्योंकि यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राज्य अपने आपको संसार भर के सब मनुष्यों और राज्यों में सर्वश्रेष्ठ समझने लगे, तो कहना होगा कि वे सभी एक भारी और हानिकारक भ्रम में पड़े हुए हैं।

(२)

कुछ लोगों को आशा हो सकती है, इस स्वदेश प्रेम से होने वाली हानि और विवेक-शून्यता लोगों पर अपने आप अवश्य प्रकट हो जायगी। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि सुशिक्षित और विद्वान् पुरुष स्वयं ही उसे नहीं देख पाते, बल्कि जब कोई उसकी बुराइयां उन पर प्रकट करता है तो वे बड़ी सरगर्मी और सख्ती के साथ उसका विरोध करते हैं। हालांकि उनकी दलीलों में कोई सार नहीं होता।

पर इस सबका सार क्या है?

मुझे तो इस आश्चर्य-चकित कर देने वाली बात का केवल एक ही स्पष्टीकरण मिलता है।

आदि काल से लेकर अद्यावधि-पर्यन्त मानव जाति का जितना भी कुछ इतिहास है, वह नीची-से नीची कोटि के विचार रखने वालों से लेकर ऊंचा-से-ऊंची कोटि का विचार रखने वाले व्यक्तियों तथा जन-समूहों के ज्ञान के विकास का इतिहास समझा जा सकता है। बल्कि यह तो एक ज्ञान सोपान—ज्ञान का जीना—है, जिस पर चढ़कर जातियां पशु जीवन से लेकर उच्चातिउच्च मानव-जीवन की श्रेणी तक पहुंची हैं।

प्रत्येक पृथक् जाति-समूह, राष्ट्र अथवा राज्य की भांति प्रत्येक मनुष्य विचारों की इस सीढ़ी के ऊपर क्रमशः आगे बढ़ता जाता है और अब भी बढ़ता जा रहा है। कुछ लोग आगे बढ़ रहे हैं कुछ अभी पीछे ही पड़े हुए हैं और कुछ—जिनकी संख्या बहुत बड़ी है—सबसे आगे बढ़े हुए और सबसे पीछे पड़े हुए लोगों के बीच में हैं। परन्तु ये सभी लोग, फिर वे चाहे जीने की किसी भी सीढ़ी पर क्यों न हों, बिना

किसी रोक थाम के नीचे से ऊंचे विचारों की ओर हो बढ रहे हैं। और हमेशा किसी एक निश्चित समय के ऊपर, भिन्न भिन्न व्यक्ति और भिन्न भिन्न जाति समूह दोनों—(सबसे उच्चतम शिखर पर पहुचे हुए, मध्य श्रेणी वाले तथा पिछड़े हुए सभी) इन तीन प्रकार की श्रेणियों के अनुसार अपना अपना काय करते रहते हैं। जिनके साथ उनके तीन भिन्न भिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।

वे तीन विचार-श्रेणियां कौन-सी हैं? हमेशा, व्यक्तियों और जाति समूहों के लिए भी कुछ विचार भूत-काल-सम्बन्धी होते हैं, जो बिलकुल पुराने होते हैं और जिन्हें लोग भूल होते हैं। लोग पुन उन विचारों पर वापस नहीं आ सकते।

कुछ विचार वर्तमान समय के हैं जो शिक्षा के द्वारा उदाहरण के द्वारा और चारों ओर काम करने वाले सर्व-साधारण लोगों के कार्यों से लोगों के दिमाग में भर दिये जाते हैं—और जो किसी निश्चित समय पर समाज में अपनी सत्ता चलाते हैं, उदाहरण के लिए सपत्ति, राज्य-सगठन, व्यापार घरेलू पशुओं के उपयोग आदि के विषय में प्रचलित विचार।

कुछ विचार भविष्य के भी हैं जिनमें से बहुतों का अनुभव पहले से ही हो रहा है और जो लोगों को अपने रहन-सहन के ढंग में परिवर्तन करने और पहले के ढंग का विरोध करने के लिए बाध्य कर रहे हैं—श्रम-जीवियों को स्वतंत्र करने स्त्रियों को समानाधिकार देने और मांस भक्षण न करने आदि के विचार इनमें प्रधान हैं। कुछ विचारों ने, यद्यपि वे पहले से ही स्वीकार कर लिये गए हैं, अभी रहन-सहन के पुराने तरीकों का विरोध करना आरम्भ नहीं किया है। ऐसे विचार (जिन्हें हम आदर्श के नाम से पुकारते हैं) बल प्रयोग को हटा देना, सम्पत्ति का सार्वजनिक होना, विश्व धर्म तथा सर्व-साधारण में भ्रातृ प्रेम स्थापित करना आदि अभी हमारे सामने आदर्श कोटि में हैं।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अथवा जाति त्रिविध विचारों की तरंगों

द्वारा आन्दोलित होती रहती है—भूत, वर्तमान और भविष्य के विचार। वह एक सग्राम ही होता है। नये विचारों का पुराने विचारों से सघर्ष होता है। प्राय एक भूत-काल का विचार, जो किसी समय उपयोगी एव आवश्यक रहा है, आगे चलकर अनुपयोगी और अनावश्यक हो जाता है, और वह छोटे-से सग्राम के पश्चात् एक नये विचार के लिए अपना स्थान खाली कर देता है। जो अब तक आदर्श था, अब कार्य-क्रम का रूप धारण कर लेता है।

परन्तु कभी-कभी एक पुराने विचार को एक खास जन-समाज इस लिए नहीं छोड़ सकता कि उससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती है यद्यपि औरों के लिए वो वह हानिकर ही होता है। तब वे लोग बड़ी चिन्ताशीलता के साथ उसकी रक्षा करते हैं। सारी परिस्थिति बदल जाने पर भी वे उसको प्रभावशाली बनाये रखने की कोशिश करते हैं। यह बात धार्मिक सप्रदायों में अक्सर पाई जाती है। पुरोहित और उपाध्याय कई बार निस्सार पुरानी बातों को इसलिए रखते हैं कि उससे उन्हें अर्थ प्राप्ति होती है।

यही बात, राजनीतिक क्षेत्र में, राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में है जिसके ऊपर प्रत्येक राज्य का भार है। जिन लोगों के लिए ऐसा करना लाभदायक है वे कृत्रिम उपायों के द्वारा इन विचारों की रक्षा करते हैं, यद्यपि अब उनमें शक्ति और उपयोगिता दोनों का अभाव हो गया है। और चूकि इन लोगों के पास दूसरों को प्रभावित करने के बड़े-बड़े शक्तिशाली साधन मौजूद हैं, वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति करने में सफल समय रहते हैं।

इस समय भी स्वदेश प्रेम विषयक प्राचीन और विपरीत दिशा में बहने वाली आधुनिक विचार धारा के बीच जो भेद है इसका रहस्य यही प्राचीनता की जीवनोत्कठा है।

(३)

यह स्वदेश प्रेम, जिसका आदर्श है केवल अपने स्व-जातीय जनों के

साथ ही प्रेम भाव रखना और जो निर्बल मनुष्यों की उनके शत्रुओं द्वारा की जाने वाली हत्या तथा अत्याचारों से रक्षा करने के निमित्त अपने सुख, शान्ति, सम्पत्ति एवं अपने जीवन का भी त्याग कर देने को अपना धर्म समझता है—वह स्वदेश प्रेम उस समय में ज़रूर एक उच्च तम कोटि का विचार था जब प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिए दूसरे राष्ट्र के लोगों के वध को एवं उन पर अत्याचार करने को एक सुगम और न्याय युक्त कार्य समझता था।

परन्तु इससे पूर्व, लगभग दो सहस्र वर्ष हुए, मानव समाज ने उच्च कोटि के विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा मनुष्यों में पारस्परिक भ्रातृ भाव की स्थापना के उच्चतर विचार को,स्वीकार किया, और उस विचार ने लोगों के हृदयों में धीरे धीरे प्रवेश करते-करते आज अनेक भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिये हैं। धन्यवाद है उन रेल, तार, मोटर आदि आने जाने के समुन्नत साधनों तथा कारीगरी व्यापार कला कौशल और विज्ञान को कि जिनकी बदौलत लोग आज एक दूसरे के साथ इस प्रकार बंध गये हैं कि किसी पड़ोसी जाति की ओर से किये जाने वाले कत्ल और अत्याचार अथवा उसके द्वारा विजित किये जाने का भय बिलकुल नहीं रह गया है और सब लोग (केवल लोग ही, सरकारें नहीं) आपस में शान्ति के साथ, परस्पर एक दूसरे को लाभ पहुंचाते हुए, मित्र भाव का और व्यापारी सम्बन्ध रखे रहते हैं। इसमें किसी का परिवर्तन करने की न कोई उन्हें आवश्यकता है और न वे ऐसा करना चाहते ही हैं। और इसलिए लोग यह समझते होंगे कि स्वदेश प्रेम के प्राचीन भाव में (जो अब व्यर्थ सा हो गया है और उस भ्रातृ भाव के बिलकुल प्रतिकूल है जो हमें इन चीजों की बदौलत प्राप्त हुआ है) धीरे धीरे कमी होती जायगी और अन्त में बिलकुल नष्ट हो जायगा। पर तो भी इसके बिलकुल विपरीत बात हो रही है—इस हानि-कारक और प्राचीन कूपमण्डूक भाव का केवल अस्तित्व ही नहीं बना रहता वरन वह अधिकाधिक तेजी के साथ धधकता जा रहा है।

लोग बिना किसी उचित कारण के तथा नीति अनीति और अपने हित का भी ख्याल छोड़कर इन सरकारों के साथ सहानुभूति रखते हैं। जब वे दूसरे राष्ट्रों के ऊपर आक्रमण करती हैं, दूसरे देश वालों के प्रदेश और सम्पत्ति छीन लेती हैं और जो कुछ वे पहले चुरा चुकी हैं, उसकी पशु-बल के द्वारा रक्षा करती हैं। वे केवल सहानुभूति ही नहीं रखते, किन्तु स्वयं भी ऐसे आक्रमणों, लूटों और ऐसी रक्षा के लिए उत्सुक रहते हैं बल्कि ऐसे कामों में आनन्द मानते हैं और उस पर गर्व करते हैं। इन अत्याचारों से पीड़ित छोटे छोटे राष्ट्र, जो बड़ी-बड़ी रियासतों के आधिपत्य में आ गये हैं—पोलैंड, आयर्लैण्ड, बोहेमिया, फिनलैंड अथवा आरमीनिया—अपने विजेताओं के स्वदेश प्रेम का, जो उनके दमन उत्पीड़न का कारण है, विरोध करते हुए भी अपने विजेताओं से उसी बुरे स्वदेश प्रेम की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और वे अपनी सारी शक्ति इसी भाव के अनुसार काम करने में व्यय कर देते हैं। और स्वयं अपने से बलवान् राष्ट्रों के स्वदेश प्रेम से कष्ट पाते हुए भी इसी स्वदेश प्रेम से प्रेरित होकर दूसरे लोगों के साथ वही अन्याय और अत्याचार करते हैं जो उनके उत्पीड़कों ने उनके साथ किया है और अब भी कर रहे हैं।

यह सब इसलिए होता है कि शासक-समाज के लोग (जिनमें केवल असली शासन करने वाले लोग और उसके कर्मचारी ही सम्मिलित नहीं हैं, किन्तु वे सभी लोग शामिल हैं, जो विशेषाधिकारों का उपभोग करते हैं—पूंजीपति, पत्र-सम्पादक, तथा बहुत से कला-कुशल और वैज्ञानिक आदि—) अपनी इस स्थिति को—जो श्रमजीवी समाज की स्थिति के मुकाबले में कहीं अधिक लाभदायक और सुविधा जनक है—बनाये रख सकते हैं। अनेक धन्यवाद है इस राजकीय संगठन को जिसकी भित्ति ऐसे स्वदेश प्रेम के ऊपर है। उनके हाथ में लोगों को प्रभावित करने वाले सभी शक्तिशाली साधन मौजूद रहते हैं, और वे हमेशा बड़े परिश्रम के साथ अपने तथा दूसरे लोगों के अन्दर उस

स्वदेश प्रेम के भावों का समर्थन करते रहते हैं, विशेष कर जो भाव
सरकार की शक्ति की पुष्टि करते हैं, उनके बदले में सरकार की ओर से
बड़े-बड़े इनाम और बख्शीशें मिलती हैं।

जितना ही अधिक निस कर्मचारी के अन्दर स्वदेश प्रेम के भाव
होंगे, उतना ही अधिक वह अपने जीवन में सफल होगा। उसी प्रकार
फौज के सिपाही को भी युद्ध-काल में ही तरक्की मिलती है और
युद्धों की जड़ भी स्वदेश प्रेम ही है।

स्वदेश प्रेम और उसके परिणाम—युद्धसे समाचार पत्रों को बहुत
बड़ी आय होती है और दूसरे बहुत से व्यवसायों को भी लाभ पहुँचता
है। प्रत्येक लेखक, अध्यापक और प्रोफेसर जितना ही अधिक स्वदेश-
प्रेम की शिक्षा देता है उतना ही अधिक वह सुरक्षित रहता है। प्रत्येक
महाराना और सम्राट् को उतनी ही अधिक प्रसिद्धि प्राप्त होती है जितना
अधिक वह इस स्वदेश प्रेम का आश्रय लेता है।

शासकों के हाथ में सेना रुपया पैसा, स्कूल, गिर्जा तथा प्रेस सभी
कुछ होता है। स्कूलों में वे बच्चों के अन्दर इस स्वदेश प्रेम की आग
उन इतिहास की पुस्तकों द्वारा उत्पन्न करते हैं जिनमें अपने ही देश के
लोगों को संसार भर के मनुष्यों में उत्कृष्ट और सत्-पथ-गामी बतलाया
गया है। युवकों के अन्दर वे इसे प्रदर्शिनियों बड़े बड़े जलसों, स्मारकों
तथा मिथ्या भाषण पटु स्वदेश प्रेम की डींग मारने वाले समाचार-पत्रों
और पुस्तकों के द्वारा भरते हैं। इसके अतिरिक्त स्वदेश प्रेम की ज्वाला
धधकाने की एक और बड़ी अच्छी युक्ति है। पहले दूसरे राष्ट्रों के साथ
हर तरह का अन्याय और सख्ती करके उनमें अपने ही लोगों के प्रति
द्वेष भाव उत्पन्न किया जाता है और फिर इस वैर भाव की सहायता
से स्वयं अपने लोगों को विदेश वालों के विरुद्ध भड़काते हैं और उनमें
शत्रुता के भाव भरते हैं।

स्वदेश प्रेम का यह भयंकर भाव यूरोपियन लोगों में बड़ी तीव्र
गति के साथ फैल गया है, और हमारे इस समय में आखिरी हद को

पहुंच गया है जिसके आगे इसके विस्तार के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है।

(४)

बहुत पुरानी बात नहीं, अभी एक ऐसी घटना घटी थी जिससे यह साफ जाहिर होता है कि इसाई जगत् में इस स्वदेश प्रेम का कैसा भयकर नशा पैदा हो गया है।

जर्मनी के शासकों ने अपने देश के अशिक्षित जनों में स्वदेश प्रेम को ऐसा भड़काया कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में एक विचित्र कानून की व्यवस्था की गई। उस कानून के अनुसार सभी लोगों को सैनिक बनना पड़ता था। बालक, युवा, वृद्ध, विद्वान् और धर्माचार्य सभी को नर-हत्या करने की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। सेना के उच्च-कर्मचारियों के हाथ में बिलकुल कठपुतला बनकर रहना पड़ता था, और जिस किसी के लिए भी हुक्म दिया जाय उसे यमलोक पहुंचा देने के लिए हर समय तैयार रहना पड़ता था। उत्पीड़ित देश के निवासियों तथा अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाले स्वयं अपने देश—भाई श्रमजीवियों को—यहां तक कि स्वयं अपने बाप और भाइयों तक को मार डालने के लिए तैयार रहना पड़ता था। उस निलज्ज बादशाह विलियम द्वितीय ने खुले तौर पर यह सब घोषित कर दिया था।[1]

इस बात को कि जिसने लोगों के हृदयों में एक विचित्र भ्रान्ति उत्पन्न कर दी, जर्मनी के लोगों ने स्वदेश प्रेम के आवेग में आकर बिना किसी चू-चा के स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने फ्रांसीसियों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली। इस विजय ने जर्मनी के और इसके बाद फ्रान्स, रूस तथा अन्य देश-शासकों के हृदयों में इस स्वदेश प्रेम के भाव को और भी उत्तेजित कर दिया और इस

1 गत यूरोपीय महायुद्ध को टॉलस्टॉय नहीं देख सके जो उनकी मृत्यु के चार हो वर्ष बाद अर्थात् १९१४ में छिड़ा और लगातार ४॥ वर्ष तक धन जन की भयंकर हानि करता रहा। स०

हिस्सा ले तो उसमें प्रत्येक को कहीं अधिक लाभ पहुँच सकता है। यह सब बड़ा ही उत्तम है, परन्तु इसमें सबसे बड़ी बुराई यह है कि प्रथम तो कोई भी मनुष्य यह नहीं जानता है कि जब सब चीजें बराबर बाँट दी जायेंगी, उस समय प्रत्येक मनुष्य का हिस्सा क्या होगा। अलावा, हरएक आदमी का हिस्सा, चाहे कुछ भी हो जो लोग इस समय विलासितापूर्ण और अमीराना जिन्दगी बसर करते हैं, उनके लिए वह अपनाम (नाकाफी) ही मालूम होगा। "सब लोग सुखी एवं सम्पन्न होंगे, और तुम भी वैसे ही सुखी और सम्पन्न होगे, जैसे कि दूसरे लोग।" —"परन्तु मैं बाकी आदमियों की तरह रहना नहीं चाहता, मैं उनसे अच्छी हालत में रहना चाहता हूँ। मैं हमेशा से दूसरों अच्छी हालत में रहता आया हूँ और मैं इस जीवन का आदी हो गया हूँ।"— "और मैं, मैं तो मुद्दतों से सब लोगों से खराब हालत में रहता आया हूँ, और अब मैं उसी तरह रहना चाहता हूँ जिस तरह दूसरे लोग रहते हैं।" यह उपाय सबसे निकृष्ट उपाय है, क्योंकि इसमें यह समझने की भूल की गई है कि जब कि सभी अच्छे जीवन की कामना कर रहे हैं कुछ लोगों में संयम की आशा की जा रही है।

एकमात्र उपाय तो यह है कि लोगों पर उनके सच्चे हित की बात प्रकट कर दी जाय, और उन्हें यह दिखला दिया जाय कि धन एक बहुत बड़ी बरकत नहीं किन्तु लोगों को उनसे उनकी सच्ची भलाई की बात छिपाकर, अपने हित से विमुख रखने वाली वस्तु है।

इसका केवल एक ही उपाय है और वह यह कि सांसारिक इच्छाओं रूपी छिद्र को बन्द कर दिया जाय। केवल इसी से दरिद्रता का समान वितरण हो सकेगा। पैदावार को बढ़ाने का प्रयत्न करने और इस प्रकार सार्वजनिक सम्पत्ति की वृद्धि करने से सर्व-साधारण का कल्याण नहीं हो सकता। आग में कहीं घी डालने से आग बुझती है ?

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥"

४

अराजकता

अराजक लोगों का यह कथन सम्पूर्णतया ठीक है कि वर्तमान व्यवस्था को नहीं मानना चाहिए,क्योंकि इस समय जैसी दुर्व्यवस्था और गड़बड़ी फैली हुई है, अधिकारी वर्ग के न रहने पर उससे अधिक दुर्व्यवस्था और गड़बड़ी न होगी। उनका सिर्फ यह ख्याल गलत है कि अराजकता की स्थापना केवल हिंसामय क्रान्ति के द्वारा ही हो सकती है। अराजकता की स्थापना अवश्य होगी। किन्तु उसकी स्थापना केवल उसी समय हो सकेगी, जब इस राजकीय शक्ति द्वारा अपनी रक्षा न चाहने वाले आदमियों की संख्या बढ़ेगा जब ऐसे लोगों की संख्या बढ़ेगी जिन्हें इस शक्ति को काम में लाते लज्जा मालूम होगी।

"यह सारा पूंजी पतियों का संगठन श्रमजीवियों के हाथ में चला जायगा, और उस समय श्रम जीवियों के ऊपर कोई भी अत्याचार न होंगे और कमाई का अनुचित (विषम) विभाग भी न होगा।'

"लेकिन सवाल यह है कि उस समय काम की व्यवस्था कौन करेगा? उसका शासन किसके हाथ में होगा?"

"यह सब आप-से आप होता रहेगा। श्रमजीवी लोग स्वयं हर एक बात का प्रबन्ध कर लेंगे।"

' लेकिन यह पूंजी पतियों का संगठन केवल इसीलिए किया गया था कि प्रत्येक काम की व्यवस्था करने के लिए ऐसे व्यवस्थापकों की आवश्यकता है जिनके हाथ में कुछ शक्ति हो। पर जहां शक्ति होगी

वहां उसका दुरुपयोग भी होगा—वही बात जिसके मिटाने की तुम इस समय कोशिश कर रहे हो।

इस प्रश्न का कि, बिना सरकार के, बिना अदालतों व और बिना सेना के काम कैसे चलेगा, कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्योंकि यह प्रश्न ही गलत है। समस्या यह नहीं है कि आजकल के आदर्श की अथवा किसी नवीन आदर्श की सरकार की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है। न मैं और न हममें से कोई अन्य व्यक्ति इस प्रश्न का फैसला करने के लिए नियुक्त किया गया है।

पर तो हमारे लिए भी इस प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य है कि मेरे सामने हमेशा खड़ी रहने वाली इस समस्या का मुकाबिला मैं किस प्रकार करूंगा? क्या मुझे अपना अन्तःकरण उन कामों के हवाले कर देना चाहिए जो हमारे चारों ओर संसार में हो रहे हैं? क्या मुझे इस बात की घोषणा कर देनी चाहिए कि मैं उस सरकार के कामों में सह-मत हूं, जो गलती करने वाले आदमियों को फांसी पर लटकवा देती है, जो लोगों को कत्ल करने के लिए फौजें रखती और भेजती है, जो दुनिया की कौमों को अफीमखोरी तथा शराबखोरी में डालकर उनका सत्यानाश करती है? अथवा मुझे अपने सारे काम अपना अन्तरात्मा के आदेशों के अनुसार करने चाहिए? अर्थात् क्या मुझे उस सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करने से इन्कार कर देना चाहिए जिसके सारे काम मेरी अन्तरात्मा के विरुद्ध होते हैं?

इस प्रकार मनुष्यों के दिमाग में क्रांति होने पर उसका परिणाम क्या होगा? तब मौजूदा सरकारों के स्थान में कैसी सरकार की स्थापना होगी—यह मैं कुछ नहीं जानता। इसलिए नहीं कि मैं उसे जानना ही नहीं चाहता, बल्कि इसलिए कि मैं उसे जान ही नहीं सकता। हां, मैं इतना जरूर जानता हूं कि, यदि मैं विवेक और प्रेम अथवा विवेकशील प्रेम के उच्चादर्श पर जो कि मुझमें जन्म से ही विद्यमान है, चलूंगा और अपने कामों को करता रहूंगा, तो इसका परिणाम बुरा

न होगा। एक मधु-मक्षिका (शहद की मक्खी) अपनी अन्त:प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करने और मर मिटने के लिए अपने छत्ते के बाहर निकलकर अन्य मधु मक्षिकाओं के साथ समूह रूप से उड़ने को चली जाती है और उसका कोई बुरा परिणाम नहीं होता। ठीक इसी प्रकार मनुष्य को भी अपनी अंतरात्मा के आदेश के अनुसार चलना चाहिए। परन्तु मैं यह फिर कहूंगा कि न मैं इसका फैसला करना चाहता हूं और न कर ही सकता हूं।

यही महात्मा ईसामसीह के उपदेशों की महत्ता और शक्ति है—यह नहीं कि ईसा ईश्वर अथवा एक महापुरुष थे। किन्तु उनकी यह शिक्षा अखण्डनीय है। उनके उपदेश का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने इस विषय को शाश्वत (निरंतर बने रहने वाले) सन्देह और अनुमान के साम्राज्य से निकालकर निश्चय के समतल पर पहुंचा दिया है। "तू एक मनुष्य है, एक बुद्धिमान् और दयालु प्राणी है, और तू इस बात को जानता है कि ये गुण सर्वोत्कृष्ट हैं। इसके अतिरिक्त तू यह भी जानता है कि आज अथवा कल किसी न किसी दिन तू मरेगा, तुझे इस संसार को छोड़ना होगा। यदि कहीं पर ईश्वर है, तो तुझे उसके सामने जाना होगा, और वह तुझसे तेरे कामों का लेखा (हिसाब) मांगेगा। वह पूछेगा कि तूने उसकी आज्ञा (कानून) के अनुसार अथवा कम-से-कम, उन विशिष्ट गुणों के अनुसार कार्य किया है या नहीं जो उसने तुझमें उत्पन्न किये हैं। यदि कहीं ईश्वर नहीं है, तो तू बुद्धि (Reason) और प्रेम (Love) को मनुष्यों के सर्वोत्कृष्ट गुण समझ और तब तू अपनी अन्य सारी वृत्तियों को उन्हीं के हवाले कर दे, उन्हें अपने पशु स्वभाव की दासी न बनने दे—उन्हें जीवन-सम्बन्धी वस्तुओं की चिन्ता की, दु:खादि के भय की और सांसारिक विपत्तियों की चेरी न बनने दे।"

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सा समाज अधिक सुरक्षित होगा, अधिक अच्छी दशा में होगा—यह

जिसका रचा शस्त्र-बल की सहायता से, बड़ी बड़ी तोपों-बन्दूकों की सहायता से अथवा लोगों को फाँसी का भय दिखलाकर की जाती है, अथवा वह जिसका रचा के लिए ऐसे कोई भी साधन नहीं है। परन्तु मनुष्य के सामने केवल एक ही प्रश्न है और उस प्रश्न की उपेक्षा करना उसके लिए असम्भव है, अर्थात् यह कि—"क्या तू, जो एक बुद्धिमान् और श्रेष्ठ प्राणी है, जो थोड़े से समय के लिए इस संसार में आया है और जिसका किसी भी समय नाश हो सकता है, भूल (गलती) करने वाले आदमियों अथवा किसी भिन्न जाति, कुटुम्ब अथवा सम्प्रदाय के मनुष्यों की हत्या में भाग लेना पसन्द करेगा? क्या तू सभ्य असभ्य समझी जाने वाली जातियों को पृथ्वी-तल से मिटा देने में भाग लेना पसन्द करेगा, क्या तू अपने लाभ के लिए अन्य जातियों को शराब-खोरी और अफीम-खोरी के दुर्व्यसनों में फँसा कर परम पिता की सन्तान के कृत्रिम विनाश का कारण बनना पसन्द करेगा? क्या तू इन सब कामों में हिस्सा लेगा अथवा उन लोगों के साथ अपनी सहमति प्रकट करेगा जो इन कामों की इजाजत देते हैं अथवा तू इन सबसे अलग रहेगा?"

जिन लोगों के सामने यह प्रश्न उपस्थित है, उनके लिए इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता है। इसका परिणाम क्या होगा, इस बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता, क्योंकि यह मेरे जानने की बात नहीं है। परन्तु किया क्या जाना चाहिए यह बात मैं अवश्य जानता हूं।

यदि तुम पूछो—"इसका अन्त क्या होगा?" तो इसका उत्तर मैं यह देता हूं कि इसका अन्त अच्छा अवश्य होगा, क्योंकि बुद्धि और प्रेम के बतलाये मार्ग पर चलने से मैं उस सबसे बड़े कानून के अनुसार कार्य कर रहा हूं, और जो मुझे ईश्वर से प्राप्त हुआ है।

× × × ×

इन अधिकांश भद्र पुरुषों की स्थिति बड़ी भयंकर और निराशा-

पूर्ण प्रतीत होती है, जिनके हृदय में सच्चे विश्व बन्धुत्व के भाव तो जागृत हो चुके हैं। पर जो इस समय पर धनापहरण करने वाले कलुषित आत्मा लोगों के कपट जाल और मक्र फरेब का शिकार हो चुके हैं, जो उन्हें अपना जीवन सत्यानाश करने के लिए विवश कर रहे हैं।

केवल दो मार्ग ही हमें दिखलाई पड़ते हैं और सो भी वे दोनों बन्द (रद्द) हैं। एक तो हिंसा या बल प्रयोग (Violence) को हिंसा या बल प्रयोग, भय प्रदर्शन, डाइनामाइट बम और तलवार के जोर से नष्ट करना, जैसा कि हमारे "निहलिस्टों (रूस के नास्तिक) और अराजकों ने उद्योग किया है, अर्थात् सरकारों की ओर से भिन्न भिन्न वर्गों के विरुद्ध किये जाने वाले षड्यन्त्र का बाहर से नाश करना। दूसरा यह कि सरकार के साथ सुलहनामा कर लिया जाय, उसे कुछ सुविधाएं प्रदान कर दी जाय, उसमें हिस्सा लिया जाय—अर्थात् उसके साथ सहयोग किया जाय, जिससे धीरे धीरे उस पाश का ग्रन्थि विच्छेद किया जा सके जो लोगों को जकड़े हुए है, और वे स्वतन्त्र (आज़ाद) किये जा सकें। पर ये दोनों मार्ग बन्द हैं।

जैसा कि अनुभव से ज्ञात हुआ है, बम और तलवार के प्रयोग का परिणाम केवल उलटा होता है इससे लाभ के बदले हानि होती है, सफलता का मार्ग रुक जाता है और उस अधिक से अधिक कीमती शक्ति अर्थात् लोक-मत का जो हमारे हाथ में एक मात्र अस्त्र है, नाश हो जाता है।

दूसरा, सहयोग का, मार्ग इसलिए बन्द है कि सरकारों ने यह बात पहले से ही समझ ली है कि वे किस हद तक ऐसे लोगों का हस्तक्षेप अथवा सहयोग स्वीकार करें, जो उनका सुधार करना चाहते हैं। वे केवल उसी हद तक सहयोग अथवा हस्तक्षेप बर्दाश्त कर सकती हैं जिससे उनके किसी काम में बाधा नहीं पड़ती है—पर जो बातें उनके लिए हानिकर हैं, उनमें वे सदैव सतर्क रहती हैं—इस कारण कि इसका सम्बन्ध स्वयं उनके अस्तित्व से है। वे अपने से

भिन्न विचार अथवा मत रखने वाले आदमियों को—ऐसे आदमियों को जो उनका सुधार चाहते हैं—केवल इसीलिए अपने यहां नहीं ले लेतीं कि वे इन आदमियों की मांगें पूरी करना चाहती हैं, बल्कि इस लिए भी कि इनमें इनका भी स्वार्थ है। ये लोग सरकारों के लिए बड़े ही खतरनाक साबित हों यदि ये बाहर रहें और उनके खिलाफ लोगों में बगावत फैलावें उस चीज का सरकारों के विरुद्ध उपयोग करते रहें जो इन सरकारों के हाथ में एक-मात्र साधन (अस्त्र) है—लोकमत। अतएव सरकारों को इन लोगों के लिए कुछ सुविधाएं (रियायतें) करके प्रलोभन देकर उन्हें निरस्त्र करना पड़ता है, जिससे वे उनको कोई हानि न पहुंचा सकें। फिर वे उनसे अपने स्वार्थ की सिद्धि करती हैं—अर्थात् उनसे प्रजा-पीड़न आदि में सहायता लेती हैं।

ये दोनों ही मार्ग बड़ी मजबूती के साथ बन्द और दुर्गम कर दिये गये हैं, अब और कौन सा मार्ग शेष रह जाता है?

बल प्रयोग से काम लेना असम्भव है इसका परिणाम उलटा ही होगा सरकारी नौकरियों और पदों का स्वीकार करना भी असम्भव है—इससे मनुष्य सरकार के हाथ की कठपुतली बन जाता है इसलिए केवल एक मार्ग ही अवशेष रह जाता है—विचारों से, वाणी से कार्य से और अपनी सारी शक्ति लगाकर सरकार के साथ युद्ध करना—न उसकी प्रधानता स्वीकार करना और न उसकी नौकरियों और पदों को स्वीकार कर उसकी शक्ति को बढ़ाना।

अकेले इसी एक बात की आवश्यकता है, और यही निश्चित सफलता का एक-मात्र मार्ग है।

यही ईश्वर की आज्ञा है और महात्मा ईसा-मसीह के उपदेश का यही सार है।

× × ×

इस समय हम उस स्थिति को पहुंच गये हैं जब एक शुद्ध-हृदय

और बुद्धिमान मनुष्य किसी राज्य (सरकार) के कामों में किसी प्रकार का कोई हिस्सा नहीं ले सकता, अर्थात् (रूस का तो कहना ही क्या है) इंग्लैण्ड में भी जमींदारी की प्रथा से, बड़े बड़े वस्तु निर्माण करने वाले कारखानों के मालिकों पूंजीपतियों द्वारा किये जानेवाले कामों से, भारतवर्ष में प्रचलित प्रथाओं, अर्थात् कोड़ेबाजी, और अफीम के व्यापार आदि से अफ्रीका की सारी-की-सारी कौमों का पृथ्वी-तल से मिटा देने के लिए किये जानेवाले राक्षसी प्रयत्नों से, लड़ाइयों और लड़ाइयों के लिए की जानेवाली तैयारियों से सहमत नहीं हो सकता है।

जिस बात के आधार पर मनुष्य यह कहता है कि—"मैं नहीं जानता कि सरकार क्या चीज है, और वह क्यों कायम है, और मैं इस बात को जानना भी नहीं चाहता, परन्तु मैं यह बात जरूर जानता कि मैं अपने अन्तःकरण के विरुद्ध अपना जीवन नहीं बना सकता—"वह एक बहुत ही दृढ़ विचार है। इस समय के लोगों को चाहिए कि यदि वे अपने जीवन में कुछ भी उन्नति करना चाहते हैं तो वे इसके ऊपर दृढ़ रहें। "मैं इस बात को जानता हूं कि मेरा अन्तःकरण मुझे किस बात की आज्ञा देता है, रही तुम्हारी बात, सो हे राजपुरुषो, तुम राज्य की ऐसी व्यवस्था कर लो जैसी कि तुम चाहते हो, ताकि वह इस समय के मनुष्यों के अन्तःकरण की मांग के बिलकुल अनुकूल हो।"

परन्तु लोग इस दुर्गम स्थान का परित्याग कर रहे हैं, सुधार के विचार से तथा सरकार के कामों में उन्नति करने के ख्याल से वे इससे सहयोग करते हैं और इस प्रकार वे अपने अजेय और दुर्भेद्य स्थान से अलग हो जाते हैं।

: १५ :

सुधार के तीन तरीके

श्रमजीवियों की दशा सुधारने और लोगों में भ्रातृ-भाव स्थापित करने के तीन उपाय हैं।

१—लोगों से अपने लिए जबरदस्ती काम न कराना, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार उनसे काम करने को न कहना, ऐसी चीजों की आवश्यकता को कभी उत्पन्न न करना जिनके बनाने में विशेष परिश्रम की आवश्यकता है—ऐसी सभी वस्तुएं विलासिता की सामग्री हैं।

२—अपने लिए, तथा, यदि समय हो सके तो, दूसरों के लिए भी ऐसा काम करना जो थका देनेवाला और अरुचिकर हो।

३—जो वास्तव में एक उपाय नहीं किन्तु इस दूसरे उपाय का परिणाम और उसका प्रयोग है, प्रकृति के नियमों का अध्ययन करना और परिश्रम घटानेवाले उपायों—कलों, वाष्प-शक्ति, विद्युत्-शक्ति आदि का आविष्कार करना। सिर्फ आवश्यक वस्तुओं का ही (जिनमें कोई भी बात अनावश्यक और व्यर्थ नहीं है,) आविष्कार केवल उसी समय मनुष्य कर सकेगा जब वह इन वस्तुओं के आविष्कार द्वारा स्वयं अपने परिश्रम को, अथवा कम-से-कम उस परिश्रम को घटाना चाहता है जिसका उसने स्वयं अनुभव किया है।

परन्तु इस समय लोग केवल इस तीसरे उपाय को काम में लाने में व्यस्त हैं, और वह भी गलत तरीके पर, क्योंकि वे दूसरे उपाय से (जो ऊपर बतलाया गया है) बिलकुल दूर रहते हैं। और फिर यही

नहीं कि वे पहल और दूसरे उपाय को काम में लाने ही के लिए तैयार नहीं हैं, बल्कि वे उनकी बात भी सुनना नहीं चाहते।

× × × ×

केवल एक ही क्रान्ति स्थायी हो सकती है, नैतिक क्रान्ति—अन्तरात्मा का परिवर्तन।

यह क्रान्ति किस प्रकार हो? इस बात को कोई भी नहीं जानता कि मानव समाज के अन्दर इसका आविर्भाव कैसे होगा। परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर इसका अनुभव स्पष्ट रूप से करता है। फिर भी इस संसार में प्रत्येक मनुष्य मानव जाति में परिवर्तन करने का विचार किया करता है। कोई यह नहीं सोचता कि अपने अंदर कैसे परिवर्तन किया जाय।

× × × ×

लोगों ने गुलामी की प्रथा तथा गुलामों के रखने के अधिकार को तो मिटा दिया, परन्तु लोगों ने अपना अमीराना रहन सहन बिना जरूरत दिन में चार-चार बार कपड़ों का बदलना, बड़े-बड़े आलीशान महलों में रहना, खाने में दस दस तरकारियों का लगना और घोड़ा-गाड़ियों तथा मोटरों, फिटनों आदि की सवारी, इत्यादि को अब भी जारी रखा है। इन सारी चीजों का होना बिना गुलामों के रहे असम्भव है। यह बात सब पर भली भांति प्रकट है। पर तो भी यह किसी को दिखाई नहीं पड़ता।

धर्म

१ :

धर्म का तत्त्व

लोग इस समय नाना प्रकार के दुःख इसलिए भोग रहे हैं कि अधिकांश जन-समाज धर्म हीन जीवन व्यतीत कर रहा है। यहां धर्म शब्द से तात्पर्य उस धर्म से नहीं है जिसकी समाप्ति कुछ धार्मिक सिद्धान्तों को मान बैठने, और कुछेक मनोरंजक धार्मिक विधि नियमों का पालन कर लेने में ही हो जाती है, जिनमें अपने आपको धैर्य और संतोष मिल जाता है और कुछ आत्मोत्साह भी बढ़ जाता है। यहां तात्पर्य उस धर्म से है जो मनुष्य का सम्बन्ध ईश्वर के साथ स्थापित और दृढ़ करता है, और इसलिए मनुष्य के सारे कर्मों का एक उच्चादर्श के ऊपर सुचारु रूप से संचालन करता है और जिसके बिना मनुष्य-जाति बिलकुल पशुवत् वरन् उससे भी हीन बनी रहती है। यह बुराई जो मनुष्य-जाति को अध पतन के गहन गर्त की ओर खींचे लिये जा रही है, वहां पर उसका नाश अनिवार्य है, इस समय अपनी विशेष शक्तियों के साथ प्रकट हुई है। क्योंकि जीवन में बुद्धि का पथ प्रदर्शन न रहने तथा लोगों की शक्ति के मुख्यत विज्ञान-सम्बन्धी खोज और उन्नति में लग जाने के कारण मनुष्यों ने प्रकृति के ऊपर अतुल शक्ति प्राप्त कर ली है। परन्तु इस शक्ति का उचित प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है, इस बात का कोई मार्ग-दर्शक न होने के कारण उन्होंने स्वभावत उसका उपयोग अपनी पाशविक शक्तियों तथा इन्द्रियों की तृप्ति करने में ही किया है।

धर्म विहीन होने के कारण ये मनुष्य प्रकृति के ऊपर अतुल शक्ति प्राप्त होते हुए भी उन बालकों के समान हैं जिन्हें गोला बारूद अथवा विस्फोटक पदार्थ खेलने के लिए दे दिये गए हों। इस शक्ति पर, जो कि इस समय के लोगों को प्राप्त है, तथा उस ढंग पर, जिस ढंग से वे उसका इस्तैमाल करते हैं, विचार करने पर यह मालूम होता है कि यदि उनके नैतिक विकास का दृष्टि में रखा जाय तो मनुष्यों को रेल, भाप, विद्युत् शक्ति, टेलीफोन, फोटोग्राफी, बिना तार का तार आदि का ही नहीं वरन् लोहा और फौलाद बनाने की साधारण कला के भी इस्तैमाल का अधिकार नहीं है। उन्नति का इन सारी वस्तुओं तथा कलाओं का प्रयोग वे केवल अपनी काम पिपासा बुझाने, आमोद और ऐय्याशी की जिन्दगी बसर करने तथा एक-दूसरे का नाश करने में करते हैं।

तो फिर ऐसी दशा में होना क्या चाहिए? क्या जीवन के इन समस्त सुधारों का, उस सारी शक्ति का, जो मानव-जाति को प्राप्त हुई है, एकदम परित्याग कर दिया जाय? क्या उन सारी बातों को भुला दिया जाय जो मानव जाति ने सीखी हैं? यह असम्भव है। इन आविष्कारों का (जो मानसिक विकास का फल है) प्रयोग कितने ही हानि-कारक ढंग से क्या न किया गया हो, तो भी वे मनुष्य की प्राप्त की हुई वस्तुएँ और मानव जाति के विकास के द्योतक हैं, और हम उन्हें भूल नहीं सकते। क्या भिन्न भिन्न राष्ट्रों के उस पारस्परिक सम्बन्ध को तोड़ दिया जाय जो शताब्दियों में स्थापित हो सका है, और उसकी जगह नय सम्बन्ध स्थापित किये जाय? क्या ऐसी नवीन संस्थाओं को जन्म दिया जाय जो बहु संख्यक मनुष्य-समाज को रोक सकें? क्या ज्ञान के प्रचार की सलाह आप दे रहे हैं? ये सब बातें आजमाई जा चुकी हैं और इन्हें बड़े चाव और उत्साह के साथ किया भी जा रहा है। उन्नति के ये समस्त कल्पित उपाय अपने आपको परेशानी में डालने और निश्चित नाश की ओर से ध्यान को हटाने के मुख्य उपाय हैं। राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन हो गया है, संस्थाएँ बदल गई हैं, ज्ञान

का भी खूब प्रचार हो गया है। परन्तु दूसरी सीमाओं के अन्दर दूसरी संस्थाओं के साथ, और परिवर्धित ज्ञान के साथ भी मनुष्य वैसे ही पशु बने हुए हैं जो हर समय एक दूसरे को नोच डालने के लिए तैयार रहते हैं, अथवा वैसे ही गुलाम (दास) बने हुए हैं जैसे कि वे हमेशा रहे हैं। और वे हमेशा इसी तरह रहेंगे, जबतक कि उनका मार्ग-दर्शक (नियन्ता) धार्मिक ज्ञान नहीं वरन् काम, क्रोध आदि इन्द्रियों के विकार, मानसिक भावनाएं तथा बाहरी ज़ोर व दबाव इत्यादि रहेंगे।

मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता, वह या तो सब से अधिक अविवेकवान् और घमण्डी आदमियों का गुलाम होगा, अथवा ईश्वर का दास (नौकर)। क्योंकि मनुष्य के लिए स्वतन्त्र होने का केवल एक ही मार्ग है—ईश्वर की आज्ञानुसार कार्य करना। पर कुछ लोग तो धर्म को मानते ही नहीं, कुछ उन बाह्य और विचित्र बातों को ही धर्म माने बैठे हैं, जो बिलकुल धर्म विरुद्ध हैं और कुछ केवल अपनी कामेन्द्रियों के हाके चलते हैं। य सब मनुष्यों के बनाये कानून को डरते हैं और राम दास होने के बजाय काम-दास होजाते हैं, अतएव वे वैसे ही पशु अथवा गुलाम बने रहेंगे। बाहर से किया गया कोई भी प्रयत्न उनको इस अवस्था से निकाल नहीं सकेगा, क्योंकि केवल धर्म ही मनुष्य को स्वतन्त्र बनाता है।

पर हमारे ज़माने के तो अधिकांश लोग धर्महीन हैं।

(२)

थोड़े समय स लोग अपना धर्म खो बैठे हैं। इसीलिए वे नाना प्रकार के दु:ख भोग रहे हैं।

वर्तमान धर्म तथा उस मानसिक और वैज्ञानिक विकास क (जो इस समय मनुष्य-जाति को प्राप्त हुआ है), बीच जो भेद है उस देख कर जिन लोगों ने यह तय किया है कि साधारणत किसी भी प्रकार के धर्म की मनुष्य को आवश्यकता नहीं। वे बिना धर्म के अपना जीवन

दिता रहे हैं, और लोगों को यह उपदेश देते हैं कि धर्म चाहे किसी भी प्रकार का और कैसा ही हो, व्यर्थ है। दूसरे लोग भी जो धर्म के उस विकृत रूप के मानने वाले हैं, जिसकी शिक्षा लोगों को इस समय दी जा रही है, अन्य लोगों की भांति धर्म हीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं और केवल उन्हीं बाहर की खोखली बातों को धर्म समझते हैं, जो मनुष्यों के सच्चे मार्ग की दर्शिका नहीं हो सकती।

तथापि वह धर्म, जो हमारे समय की सारी मांगों को पूरा करता है अब भी वर्तमान है तथा सब मनुष्यों पर प्रकट है, और गुप्त रूप में संसार के लोगों के हृदयों में विद्यमान है। इसलिए, इस धर्म को सब लोग समझ जाय और उसके अनुसार सब काम करें। इसके लिए केवल एक बात की आवश्यकता है। शिक्षित समाज के लोग—जो अशिक्षितों के नेता (मार्ग-दर्शक) हैं—यह समझ लें कि मनुष्य के लिए धर्म एक आवश्यक वस्तु है। बिना धर्म के मनुष्य अच्छा जीवन नहीं बिता सकता। और विज्ञान धर्म का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। सत्ताधारी तथा प्राचीन समय के खोखले धर्म का समर्थन करने वाले इस बात को समझ लें कि वे जिस बात को धर्म समझ कर उसका समर्थन करते हैं और लोगों को उसकी शिक्षा देते हैं, वह धर्म तो है ही नहीं बल्कि मनुष्यों के सच्चे धर्म की प्राप्ति के मार्ग में एक बहुत बड़ा रोड़ा है। अतएव मनुष्य की मुक्ति का एक-मात्र निश्चित उपाय यह है कि वह उन कामों का करना छोड़ दे जो मनुष्यों को सच्चे धर्म को पहचानने से रोकते हैं जो पहले से ही उनके अन्तःकरण में विराजमान है।

(२)

जो लोग जान-बूझ कर अथवा अनजान में धर्म की ओट में अपूर्ण मिथ्या-धर्म का प्रचार करते हैं, वे इस बात को समझ लें कि ये सारे धार्मिक सिद्धान्त, (नियम) प्रतिज्ञाएं तथा विधि नियम, जिनका वे समर्थन करते हैं और जिनका शिक्षा देते हैं, अत्यधिक हानिकारक हैं, क्योंकि

अपनी शहद की मक्खियों की देख रेख करते हैं, और इसी के साथ साथ (अपनी योग्यता के अनुसार) गाववालों को दवा दारू की सहायता करते हैं, उनके बच्चों को पढ़ाते हैं और अपने पड़ोसियों के लिए चिट्ठियां और अर्जियां इत्यादि लिखते हैं।

लोग यह समझेंगे कि इससे अच्छा और कोई जीवन हो ही नहीं सकता। पर तो भी यह जीवन नरक ही होगा अथवा नरक ही हो जायगा, यदि ये लोग पाखण्डी और मिथ्या मार्गी नहीं हैं अर्थात यदि उनमें वास्तव में सचाई है।

यदि इन लोगों ने उन सुविधाओं और ऐश व आराम की बातों को, जो उन्हें रुपय पैसे की बदौलत बार शहरों में प्राप्त थीं, छोड़ा है, तो ऐसा उन्होंने सिर्फ इसलिए किया है कि वे सब आदमियों को भाइ परमपिता परमेश्वर के सामने एक समान मानते हैं। समानता के मानी योग्यता और कीमत में समानता नहीं परन्तु इस बात में कि सबको जीने का और जीवन के लिए आवश्यक चीजों के पाने का समान हक है।

मनुष्यों की समानता के सम्बन्ध में लोगों को उस समय सन्देह हो सकता है, जब वे नवयुवकों के ऊपर विचार करते हैं जिनकी पहले की (भूत कालिक) अवस्था भिन्न भिन्न रही है, परन्तु जिस समय मनुष्य छोटे छोटे बच्चों के ऊपर विचार करता है, तो इस सन्देह के लिए कहीं कोई स्थान नहीं रह जाता। क्या कारण है कि किसी एक बालक की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान रखा जाय, उसकी बड़ी हिफाजत और होशियारी के साथ परवरिश की जाय, और उसे हर तरह की सहायता पहुंचाई जाय, और साथ ही इसके दूसरे बालक को, जो वैसा ही सुन्दर, वैसा ही अथवा उससे अधिक होनहार है, उचित लालन पालन न होने के कारण क्षीण काय, और निर्बल होने दिया जाय। उसे काफी दूध भी न मिले, जिससे उसके अंग प्रत्यंग एवं शरीर का समुचित विकास हो सके। यह मूर्ख और

एक अभ्यास तथा मिथ्या बातों में विश्वास करने वाला और एक भार-वाहक पशु बना रहे। और फिर यह कहा जाय कि इसके भाग्य में ही यह लिखा है?

इसमें संदेह नहीं कि यदि लोगों ने शहरों का रहना छोड़ दिया है, और जाकर देहात में बस गये हैं जैसा कि इन लोगों ने किया है, तो इसका कारण केवल यही है कि वे मनुष्य के भाई-चारे (विश्व बन्धुत्व) के रिश्ते में केवल जबानी नहीं वरन् वास्तविक विश्वास को कार्य रूप में परिणत करने को तैयार नहीं हैं, तो कम-से-कम अपने जीवन में वे अवश्य उसे कार्य रूप में देखना चाहते हैं, और उसका उन्होंने श्रीगणेश भी कर दिया है। और यदि उनमें सचाई है, यदि वे जैसा कहते हैं वैसा ही करना चाहते हैं, तो उनके इस विचार पर अमल करने के प्रयत्न का फल यह अवश्य होगा कि वे एक बहुत बड़ी विषम स्थिति में पड़ जायगे।

शायद से, आराम से और विशेष कर सफाई के साथ रहने की अपनी आदतों के साथ (जो बचपन से पड़ रही हैं) गावों में पहुचने पर उन्होंने अपने रहने के लिए एक छोटा-सा झोंपड़ा मोल अथवा किराये पर लेकर उसकी खूब अच्छी तरह सफाई की है, उसमें सुइयों से लगे हुए जाले और कीड़ों मकोड़ों को साफ किया है, अथवा अपने ही हाथों से एक झोंपड़ा तैयार कर लिया है, और उसमें विलासिता नहीं वरन् आवश्यकता की कुछ एक चीजें—जैसे लोहे का पलग, अलमारी तथा लिखने के लिए मेज इत्यादि रखकर उसे खूब सजाया है। इस प्रकार गावों में जाकर वे अपना जीवन आरम्भ करते हैं। पहले तो गाव वाले उनसे घृणा करते हैं, यह समझते हैं कि (दूसरे अमीर आदमियों की तरह) वे भी बल-प्रयोग द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा करेंगे, और इसलिए अपनी अपनी दरख्वास्त और मागों को लेकर वे उन तक नहीं पहुचते हैं। परन्तु थोड़े ही दिनों में, धीरे धीरे लोग इन आने वालों के स्वभाव से परिचित हो जाते हैं, वे

(आगन्तुक) लोग स्वय अपनी ओर से अपनी सेवाएं उन ग्राम्य जनों की भेंट करने लगते है, तथा सादमी और निर्भीक ग्राम वासी थोड़े ही समय म यह मालूम कर लेते हैं कि ये नवागन्तुक किसी बात से इन्कार नहीं करते, बल्कि लोगों को उनसे लाभ पहुंच सकता है।

इसके बाद उनके सामने हर प्रकार का मांगें पेश होने लगती हैं। वे धीरे धीरे बढ़ती भी रहती हैं। गाव वालों वा मांगों की पूर्ति करते वे भी उन्हीं की तरह हो जाते हैं।

भिक्षा रूप में मांगते मांगते, जैसा कि स्वाभाविक है, लोग उनसे बतौर अधिकार के अपनी मांगें पेश करने लगते हैं। लोग चाहते हैं कि नवागन्तुकों के पास दूसरों से जितना अधिक धन है उसे वे उन लोगों में बाट दें। ये नये बसे हुए महानुभाव भी सोचते हैं कि जो लोग अत्यन्त दीन और दुःखी हैं उनको वे अपने पास की फालतू चीजें, जिनकी उन्हें कोई विशेष आवश्यकता नहीं है बाट दें। पर इससे भी उन्हें संतोष नहीं होता। वे तो यह चाहते हैं कि उनके पास भी सिर्फ इतनी ही चीजें बाकी बची रहें जितनी प्रत्येक मनुष्य(अर्थात् सामान्य मनुष्य) के पास होनी चाहिए। पर होता यह है कि एक सामान्य मनुष्य की जरूरतों का एक निश्चित माप न होने के कारण त्याग की कोई सीमा नहीं रह जाता। क्योंकि हमेशा चारों ओर गरीबों की चीख-पुकार मची ही रहती है, और जब इन अतिशय दरिद्र लोगों की दशा से वे अपनी तुलना करते हैं तो वे अपने पास इनकी अपेक्षा अधिक धन देखते हैं।

यह आवश्यक जान पड़ता है कि हर एक आदमी को एक-एक गिलास दूध मिला करे; परन्तु इन दोनों के दो छोटे छोटे दुध मुँहे बच्चे हैं, जिनकी मां के स्तनों में दूध नहीं है और एक दो साल का बच्चा है जो मारे भूख के मृत प्राय हो रहा है। वे एक गद्दा, तकिया और कम्बल भी रख सकते हैं, जिससे दिन भर के परिश्रम से थक जाने पर रात को आराम से सो सकें। परन्तु उनके सामने एक कोट के ऊपर,